



H 1732

हठयोग प्रदीपिका



हठयोग प्रदीपिका

(सरल टीका एवं व्याख्या सहित)

टीकाकार :

डॉ० चमनलाल गौतम

रचयिता:—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, योगासन से रोग निवारण, सूर्य नमस्कार से रोग निवारण, अष्टांग योग सिद्धि, अष्टांग योग रहस्य, भक्ति योग ।

सम्पादक:—योग साधना, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, गोरक्ष संहिता तथा वृहद् शिव स्वरोदय आदि ।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

खाजा कुतुब, वेद नगर, बरेली—२४३०१ (उ० प्र०)

प्रकाशक :

डॉ० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान,
खाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००९ (उ. प्र.)

*

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

*

सम्पादक :

डॉ० चमनलाल गौतम

*

द्वितीय संशोधित संस्करण

१६७८

*

मुद्रक :

देवदत्त मिश्र
यमुना प्रिंटिंग प्रेस,
आर्य समाज रोड, मथुरा।

*

मूल्य :

कार रुपये पञ्चीस पैसे मात्र

1732

भूमिका

प्रस्तुत 'हठयोग प्रदीपिका' नामक ग्रन्थ भगवान् श्री आदिनाथ द्वारा उपदेशित हठयोग विद्या का लिपिबद्ध संग्रह है, जो कि हठयोग विद्या रूप अथाह समुद्र में डुबकी मारकर अमूल्य निधि को निकाल लाने के समान है। इस ग्रन्थ के द्वारा न जाने कब से योग-जिज्ञासु पुरुष उपकृत होते आये हैं और वर्तमान काल में भी उपकृत हो रहे हैं। इसीलिए इसकी प्रसिद्धि आज भी उतनी ही है, जितनी कि प्राचीन काल में रही है।

श्री आदिनाथ भगवान् शिव का ही एक नाम है, जो कि योगी-समाज में ही नहीं, जन-साधारण में भी अपरचित नहीं है। उन्हीं आदिनाथ नामधारी शिव ने सांसारिक जीवों को मद-मोह से निकाल कर उनका कल्याण करने के उद्देश्य से जगजननी भगवती पार्वतीजी के प्रति इस उपदेश को कहा था।

हठयोग विद्या, वह विद्या है जिसका सेवन करके अनेकानेक महायोगी पुरुष संसार-सागर से सहज ही पार हो गए। पुराणों का वर्णनानुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने भी ब्रह्मपद की प्राप्ति के लिए इसी विद्या का आश्रय लिया था और ब्रह्मा ही नहीं, विष्णु, शिव, नारद, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि अनेक देवता, ऋषि-महर्षि आदि सभी इसका आश्रय लेकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करते रहे हैं। इसीलिए बड़े-बड़े योगचार्यों और ज्ञानी पुरुषों ने इसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है और वे इस के उपदेशानुसार आचरण में प्रवृत्त होते रहे हैं।

यह भी मान्यता है कि हठयोग विद्या को सर्व प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ ने भगवान् आदिनाथ के श्रीमुख

से श्रवण किया था और इस श्रवण किये हुए योग का परम्परागत पालन होता रहा तथा समय-समय पर सार रूप में जिज्ञासुओं के समक्ष आता रहा। अधिक कठिन और निरर्थक अंशों का त्याग होते-होते अन्त में इसने 'हठयोग प्रदीपिका' का रूप ग्रहण किया और तब गोरक्षनाथ जी की कृपा से उन्हीं के अनुसार इसका सारभूत एवं उत्कृष्ट रूप जिज्ञासुजनों के हितार्थ प्रकट हुआ।

'हठयोग प्रदीपिका' नामक इस ग्रन्थ के चार विभाग कर प्रथम उपदेश से चतुर्थ उपदेश पर्यन्त चार उपदेशों में प्रस्तुत मनुष्यों के लिए इसका समझना सुगम नहीं था और अब तक इसके अनुवाद या टीकाएँ भी कुछ ऐसी भाषा में थीं, जो कि आज-कल की हिन्दी से कुछ पृथक्-सी प्रतीत होती है। उसे पढ़कर कभी-कभी तो पाठक को एक उलझन-सी अनुभव में आती है, और वह यथार्थ निष्कर्ष से बंचित हो रह जाता है।

हमने इसी कठिनाई का अनुभव करके, इसकी टीका वर्तमान सरल सुवोध हिन्दी में करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है और साथ ही सहज ही समझ में आ सके, इस उद्देश्य से प्रत्येक श्लोक की विस्तृत व्याख्या भी संयुक्त करदी है। इस व्याख्या में श्रुतियों, उपनिषदों, शास्त्रों एवं अन्यान्य ग्रन्थों का मनन करके, जहाँ आवश्यक समझा, उनके उद्धरण भी दे दिये हैं, जिससे कि विषय वस्तु को अत्यन्त सुगमता से समझा जा सके। व्याख्या के इस कार्य में हमें कविराज श्री दाऊदयाल गुप्त से जो अमूल्य सहयोग मिला है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमारा यह प्रयास योग-जिज्ञासुओं और साधारण पाठकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी एवं कल्याणकारी सिद्ध होगा।

—४१० चमनलाल गौतम

विषय सूची

प्रथम उपदेश

१—आरम्भिक वन्दनादि	३५
२—श्रीगुरु नमस्कार	१०
३—योग्य देश एवं कुटी-निर्माण	१८
४—यम-नियम वर्णन	२६
५—आसनादि कथन	२८
६—स्वस्तिक आसन	२९
७—गोमुख आसन	३०
८—वीरासन	३०
९—कूमारसन	३१
१०—कुरुकुटासन	३१
११—उत्तानकूमारसन	३२
१२—धनुरासन	३२
१३—मत्स्येन्द्रासन	३३
१४—पश्चिमतान आसन	३४
१५—सायुरासन	३६
१६—शवासन	३७
१७—सर्वथ्रेष्ठ चार आसन	३८
१८—सिद्धासन	३९
१९—सिद्धासन प्रशंसा	४१
२०—पद्मासन कथन	४३
२१—सिंहासन कथन	४७
२२—भद्रासन कथन	४८
२३—योगियों का पथ्याहार	४४

द्वितीय उपदेश

१—प्राणायाम वर्णन	५७
२—मलशोधन की महत्ता कथन	५८
३—प्राणायाम का अवान्तर फल कथन	६१
४—युक्तायुक्त प्राणायमों का फल वर्णन	६६
५—धौति कर्म	६८
६—वस्ति कर्म	७०
७—नेति कर्म	७२
८—त्राटक कर्म	७२
९—नौलि कर्म	७३
१०—कपाल भाति कर्म	७४
११—गजकरणी कथन	७५
१२—सुषुम्ना में सुखपूर्वक वायु प्रवेश कथन	७७
१३—कुम्भक के भेद	७८
१४—सूर्य भेदन कुम्भक	८१
१५—उज्जायी कुम्भक	८४
१६—सीत्कारी कुम्भक	८५
१७—शीतली कुम्भक	८६
१८—भस्त्रिका कुम्भक	८७
१९—भ्रामरी कुम्भक	८०
२०—मूच्छी कुम्भक	८१
२१—लाविनी कुम्भक	८२
२२—प्राणायाम के भेद कथन	८२

तृतीय उपदेश

१—कुण्डली-बोध	८७
२—सुषुम्ना के पर्याय कथन	८८
३—महामुद्रा कथन	१००
४—महामुद्रा के अध्यास का क्रम वर्णन	१०२
५—महाबन्ध कथन	१०४
६—महावेद वर्णन	१०६
७—खेचरी मुद्रा	१०८
८—ओडिडयान बन्ध वर्णन	११८
९—मूलबन्ध वर्णन	१२१
१०—जालन्धर बन्ध	१२४
११—विपरीतकरणी मुद्रा	१२८
१२—वज्रोली मुद्रा	१२९
१३—सहजोली मुद्रा	१३३
१४—अमरोली मुद्रा	१३४
१५—नारी की वज्रोली मुद्रा	१३६
१६—कुण्डली के पर्याय कथन	१३७
१७—शक्तिचालन मुद्रा	१४०
१८—सद्गुरु प्रशंसा	१४७
चतुर्थ उपदेश			
१—समाधि वर्णन	१४९
२—राजयोग प्रशंसा	१५३



३—जीवन्मुक्ति का लक्षण	१५६
४—प्राणलय से कालजय कथन	१६०
५—शास्त्रभवी मुद्रा वर्णन	१७१
६—उत्तमनी मुद्रा	१७३
७—खेचरी मुद्रा का स्थैर्य कथन	१७६
८—नाद की आरम्भावस्था	१८८
९—नाद की घटावस्था	१८९
१०—नाद की परिच्छयावस्था	१९१
११—नाद की निष्पत्ति अवस्था	१९०
१२—विशेषजय से सुख प्राप्ति कथन	१९२
१३—नाना नाद वर्णन	१९३
१४—मन का चापल्य नाश	१९५
१५—व्यापक आत्मा का परमपद वर्णन	१९८
१६—उत्तमनी अवस्था में चेष्टा रहितता	२०२
१७—योगी की सर्वथा अवध्यता वर्णन	२०६



हठयोग प्रदीपिका

प्रथम उपदेश



आरंभिक वन्दनादि

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोद्गुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥१

दीक्षा—हठयोग विद्या का उपदेश करने वाले भगवान् श्री आदिनाथ को नमस्कार करके ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं। वह विद्या मुमुक्षु को ऊपर चढ़ाकर राजयोग में युक्त कर देती है, इसलिए नसनी के समान है ॥१॥

ब्रह्माख्या—आदिनाथ शिवजी का ही एक नाम है अथवा जो सबसे पूर्व हैं, उनसे पहले का कोई नहीं, इसलिए उनका नाम आदिनाथ हुआ। कुछ विद्वान् श्री आदिनाथ का अर्थ श्री (लक्ष्मी) सहित विष्णु करते हैं। वैसे शास्त्रों के अनुसार शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है। विष्णु पुराण (१२।६६) के अनुसार—

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम् ।
संज्ञां यान्ति भगवानेक एवं जनार्दनः ॥

अर्थात्—वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्तोदन, पालन और संहार करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उन्हीं के ताम हैं।



‘एकमेवाद्विवीयम्’ (छान्दोग्य ६।२।१) अर्थात्—‘वह एक ही है, दो नहीं’ से भी भगवान् का एक होना ही सिद्ध है । शिव पुराण में भी ‘एक एवतदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चनः’ अर्थात् ‘तब (सृष्टि के आदि में) अकेला रुद्र ही था, कोई और नहीं था’ कहकर उक्त मत की पुष्टि की गई ।

‘अधिरोहिणी’ का अर्थ नसैनी या सीढ़ी है । यह हठयोग विद्या साधक को परिश्रम के बिना ही राजयोग रूपी पीठ पर चढ़ा देती है । इसलिए ऐसी विद्या को प्रकट करने वाले भगवान् आदिनाथ को नमस्कार करना भी श्रेयस्कर है ।

श्रीगुरु नमस्कार

प्रणम्य श्रीगुरु नाथं स्वात्मारामेण योगिना ।

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

टीका—उन श्री गुरु नाथ को प्रणाम हैं, जिन्होंने राजयोग प्राप्त कराने के लिए मुझ स्वात्माराम योगी को हठविद्या का उपदेश किया है ॥ २ ॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ में मञ्जल की अपेक्षा से गुरुदेव को नमस्कार करते हैं । क्योंकि गुरुदेव के उपदेश के बिना किसी भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव नहीं होती । यदि गुरु कृपा हो तो साधक के लिए मोक्ष दुर्लभ नहीं । इसलिए गुरु को नाथ अर्थात् स्वामी कहा है । योगवासिष्ठ में कहा है—

गुरुपदेशशास्त्रर्थं विना चात्मा न बुद्ध्यते ।

एतत्संयोग सत्त्वं स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी ॥

—योग वासिष्ठ ६।४।११६

अर्थात्—गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन बिना आत्मज्ञान नहीं होता । अधिकारी जिज्ञासु, शास्त्राध्ययन और

सद्गुरु इन तीनों का संयोग होने पर ही आत्मज्ञान का प्रकाश होता है ।

यदि गुरु की कृपा न हो तो बहुत से बड़े हुए मन्त्र निष्फल रहते हैं, इसलिए किसी भी मन्त्र की दीक्षा गुरुमुख से लेनी चाहिए । इसी की पुष्टि निम्न कथन से होती है ।

अनेक कोटि मन्त्राणि चित्त व्याकुल कारणम् ।

मन्त्रं गुरोः कृपा प्राप्तमेकं स्यात् सर्वसिद्धिदम् ॥

अर्थात्—करोड़ों मन्त्र हैं, परन्तु वे चित्त की व्याकुलता के ही कारण होते हैं (अर्थात् चित्त की व्याकुलता ही उत्पन्न करते हैं । यदि गुरु की कृपा से एक मन्त्र भी प्राप्त हो जाय तो वह सर्वसिद्धि प्रदान करने वाला होता है ।

इस प्रकार गुरु द्वारा सीखी हुई विद्या का ही सफल होना सिद्ध है । साधक को गुरु का उपदेश प्राप्त करके, उसी के अनुसार साधना करनी चाहिए । इस लोक गुरु को प्रणाम करने का उद्देश्य भी है ।

भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ।

हठप्रदीपिकां धर्ते स्वात्मारामः कृपाकर ॥ ३ ॥

टीका—अनेक मतों के गहन अन्धकार की भ्रान्ति से उबारने के लिए अपनी आत्मा में रमण करने वाले (स्वात्माराम) योगी कृपापूर्वक इस हठयोग प्रदीपिका को प्रकट करते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—लोक में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं । कोई एक अपने मत को शोष्ठ कहता है तो कोई दूसरा अपने मत को उत्कृष्ट बतलाता है । इस प्रकार सभी मत वाले अपने मत की प्रशंसा करते हैं, इस कारण चंचल चित्त वाले अज्ञानी पुरुष उनके आकर्षण में पड़ कर कभी कहीं जाते हैं तो

कभी कहीं । वे यह निश्चय नहीं कर पाते कि यथार्थ कर्त्तव्य क्या है ?

उन भ्रान्ति में पड़े हुए मनुष्यों को वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सके, इस उद्देश्य से कृपालु योगी ग्रन्थकार के उन पर कृपा के रूप में इस हठयोग प्रदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की है और यही तात्पर्य उन्होंने इस श्लोक में स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है ।

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते ।

स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते मतप्रसादतः ॥४

टीका—महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ आदि ही इस हठ विद्या को जानते हैं अथवा उनकी कृपा से स्वात्माराम योगी भी इसे जानता है ॥४॥

ब्याख्या—ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का श्रेय स्वयं को न देकर मत्स्येन्द्रनाथ आदि महान् योगी पुरुषों को ही दिया है । उसका अभिप्राय है उक्त महानात्माओं की प्रसन्नता प्राप्त करने पर ही उसे इस हठयोग विद्या की प्राप्ति हो सकी है । श्लोक में 'हि' शब्द इस अर्थ का बोधक है कि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि योगीजन इस विद्या को विशेष रूप से जानते थे और उन विशेषज्ञों से प्राप्त विद्या में भी विशेषता होनी चाहिये ।

प्राचीन ऋषि-मुनि संसार का कल्याण करना अपना कर्त्तव्य समझते थे । इसीलिए अज्ञानी पुरुषों को ज्ञान देकर उन्हें मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त किया करते । इसी उद्देश्य से ग्रन्थकार ने भी इस ग्रन्थ की रचना करना उचित समझा ।

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानंदभेरवाः ।

चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षविलेशयाः ॥५

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ।

कोरंटकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥६

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ।

कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वरराहवयः ॥७

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चौली च टिटिणिः ।

भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥८

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।

खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥९

टीका—श्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, शाबरनाथ और आनन्द भैरव तथा चौरङ्गी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशयनाथ आदि सिद्ध हुए । मंथान, भैरव, सिद्ध, बुद्ध, कन्थद्रि कारंटक सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटि, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपाली, बिंदुनाथ, काक-चण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडा चौली, टिटिणी, भानुकी नारदेव, खण्ड कापालिक इत्यादि हठयोग के प्रभाव से ही महासिद्ध हो गए । यह सभी काल-दण्ड का खण्डन करके अर्थात् मृत्यु को जीतकर ब्रह्मांड में विचरण करते हैं ॥५—९॥

ब्याख्या—श्री आदिनाथ के उपदेशानुसार अनेकानेक सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने हठयोग के द्वारा ऐशवर्य प्राप्त किया है । आदिनाथ उन सब में प्रथम हैं, जिनके द्वारा नाथ सम्प्रदाय चलाया गया । यहाँ इन नामों के वर्णन करने का उद्देश्य जिज्ञासु की प्रवृत्ति के लिये ही है, जिससे कि उनकी उत्कर्ष-गाथा का स्मरण होते ही उसकी भी आकर्षण-वृद्धि हो सके ।

मत्स्येन्द्रनाथ का एक उपाख्यान सुना जाता है । वह इस

प्रकार है कि एक समय भगवान् आदिनाथ शिवजी किसी एकांत सरोवर के तट पर विराजमान थे। वहाँ पार्वतीजी ने उनसे योग-ज्ञान की जिज्ञासा की। आदिनाथ शिव उन्हें हठयोग का उपदेश करने लगे, जिसे पार्वतीजी मन लगाकर सुनने लगीं।

उस सरोवर के जल में एक मत्स्य रहता था। वह भी उस योगोपदेश को मन लगा कर सुन रहा था। कृपालु आदिनाथ जी को उसका वह श्रवण ज्ञात हो गया और उन्होंने कृपा पूर्वक उसके निकट जाकर सरोवर से जल लिया और उस मत्स्य के ऊपर सीचने लगे। भगवान् आदिनाथजी के इस अनुग्रह को प्राप्त करके मत्स्य कृतकृत्य हो गया और उसे तुरन्त ही सिद्धि की प्राप्ति हो गई। वही मत्स्येन्द्रसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ हो गए।

चौरंगी की कथा इस प्रकार बताई जाती है कि एक बार वन में स्थित हुए चौरंगी (हाथ-पाँव-विहीन) पर उनकी हृष्टि गई। उनके देखने मात्र से चौरंगी के हाथ-पाँव लग गए। चौरंगी समझ गया कि इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से मैं हाथ-पाँवों से युक्त हो गया और तब वह उनके चरणों में गिर कर अनुग्रह की याचना करने लगा। मत्स्येन्द्रनाथ को भी दया आ गई और उन्होंने उसे हठ विद्या का उपदेश दिया। आगे चल कर वही चौरंगी सिद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

मत्स्येन्द्रनाथ आदिनाथजी के शिष्य थे। उनके अनेक शिष्य हुए। गोरक्षनाथ भी उन्हीं के शिष्य बताये जाते हैं। गोरक्षनाथ के नाम का कथन भी भर्तृहरि और गोपीचन्द्र की अन्तर्कथा की ओर संकेत करता है। गोरक्षनाथ ने राजा भर्तृहरि को योग का उपदेश किया था और भर्तृहरि ने अपने भानजे (वहिन के पुत्र) राजा गोपीचन्द्र का योग की ओर प्रवृत्त किया, जिससे वह भी राज-पाट का त्याग करके गोरक्षनाथ की शरण

इस प्रकार यह सभी सिद्ध हठयोग के प्रवर्त्तक भी हुए हैं। उन्होंने काल के दण्ड को काट डाला अर्थात् शरीर और प्राण को पृथक् करने वाले मृत्यु को विजय करके वे ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। इसका आशय यह है कि उन्हें सभी लोकों में इच्छानुसार जाने-आने की सामर्थ्य प्राप्त हो गई।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ।

अशेषयोग्यूक्तानामाधारकमठो हठः ॥१०

टीका:—अशेष ताप से तप्त हुए पुरुषों का समाश्रय मठ रूप हठयोग और अशेष योगियों का आधार कमठरूप हठयोग है ॥१०॥

च्याख्या:—हठयोग और कमठयोग के भेद से मठयोग दो प्रकार माने गए हैं। इनमें सभी तापों का नाशक हठयोग और योगों का साधक कमठयोग है। अशेष ताप के कथन का संकेत त्रिताप की ओर है और ताप तीन प्रकार का है—(१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन तापों के कारण तप्त हुए मनुष्यों के लिए हठयोग मठस्वरूप होता है। मठ का अर्थ है घर, इससे हठयोग का उनके लिए आश्रय देने वाला समझना चाहिए। इसीलिए ‘अशेषतापतप्तान’ कह कर ग्रन्थकार ने उन मनुष्यों की ओर संकेत किया है, जिनके त्रितापों में से कोई एक भी शेष रह गया है। इन तापों में भी आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का माना गया है। शारीरिक ताप का तात्पर्य है रोगादि और मानसिक ताप का अभिप्राय है मन का अशान्त रहना। इनका शमन योग के आश्रय से ही सम्भव है।

योगों से सम्पन्न पुरुष का आश्रय ईश्वर है और ईश्वर का एक अवतार कमठ अर्थात् कच्छप रूप में भी हुआ है। इस-

लिए जो साधक योग सम्पन्न होकर भगवान् के विभिन्न स्वरूपों का ध्यान करता है, उसे अवश्य ही काम्यफल की प्राप्ति होती है। कर्मठ अर्थात् कच्छप को जगत् का आधार माना गया है, क्योंकि समुद्र मन्थन के समय भगवान् ने कच्छप रूप धारण करके समुद्र में धसकते हुए श्रीमद्भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

विलोक्य विघ्नेशविद्धि तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुत महत्
प्रविष्य तोय गिरिमुञ्जहार ॥

—भागवत ८।७।८

अर्थात्—विघ्नेश्वर द्वारा किये हुए विघ्न को समझ कर अनन्त शक्ति और सत्य सङ्कल्प वाले भगवान् कच्छप अवतार धारण कर जल में प्रविष्ट हुए और उस पर्वत को बाहर ले आये।

उक्त श्लोक से अगले श्लोक में 'दधार पृष्ठेन स लक्ष्योजन' कह कर भागवतकार ने 'भगवान् कच्छप द्वारा एक लाख योजन की पीठ बना कर उस मन्दराचल पर्वत कर लेना कहा है। इस प्रकार यह अन्तर्कथा कच्छप को पर्वतादि स्वरूप वाले जगत् का आधार मानकर योगयुक्त पुरुष उन्हीं भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहता है। इसी को कर्मठरूप हठयोग समझना चाहिए।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्विर्या तु प्रकाशिता ॥११॥

टीका—सिद्धि की आकंक्षा वाले साधक को हठ विद्या

परम गोपनीय है, क्योंकि गुप्त रहने से ही यह वीर्यवती रहती है और प्रकट होने पर निर्विर्य हो जाती है ॥११॥

ड्याख्याः—अन्य विद्याएँ चाहें प्रकट रहें अथवा गुप्त परन्तु हठयोग विद्या को परम गुप्त रखने योग्य माना गया है। सिद्धियों की इच्छा वाले के लिये तो अवश्य इसे गुप्त रखना चाहिए, तभी वह वीर्यवतो अथात् प्रभावशालिनी रह सकती है और वीर्यवती रहने से ही सिद्ध मिल सकती है।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वाशित्व। इनसे शरीर को क्रमः अणुवत् सूक्ष्म वृहदाकाएः, भारी, हल्का कर लेना और दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श करना, कामनाये पूर्ण कर लेना अन्तरिक चक्रों पर प्रभुत्व रखना और सभी को अपने वश में कर लेना आदि सामर्थ्यों की प्राप्ति हो सकती है।

योगदर्शन के विभूतिपान लगभग तीस सिद्धियों का वर्णन है, किसी से भूख-प्यासा पर विजय और किसी से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है। किसी से दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि और किसी से लोकों नक्षत्रों आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की सिद्धिया योग के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु, उन सिद्धियों को प्राप्त कराने वाली विद्या यदि प्रकट हो जाती है तो उसमें शक्ति का हास हो जाता है और वह जो प्रभाव उत्पन्न कर सकती थी, उसे करने में समर्थ नहीं रहती।

योग्य देश एवं कुटी-निर्मण

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।

धनुः प्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलबर्जिते ॥

कांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२

टीका—ऐसा धार्मिक देश हो, जिसमें कोई उपद्रव न हो, सुभिक्ष रहता हो, उसके चारों ओर धनुष प्रमाण पर्यन्त शिला, अग्नि और जल न हो। श्रेष्ठ राज्य में स्थित ऐसे स्थान में मठिका बनवाकर हठयोगी को योगाभ्यास करना चाहिए ॥१२॥

व्याख्या—धार्मिक देश और श्रेष्ठ राज्य में रहने का कथन इस अभिप्राय को व्यक्त करता है कि योगी के वहाँ देश अर्थात् स्थान उपयुक्त हो सकता है जहाँ अधर्म या अपवित्रता का लेश भी न हो। क्योंकि योगाभ्यास के लिए वातावरण की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है, यदि वातावरण में पवित्रता न होगी तो मनमें अधर्म रहेगा, जिससे एकाग्रता सम्भव नहीं होगी जिससे साधना भी फलवती नहीं हो सकती।

सुराज्य का अभिप्राय ऐसे राज्य से है, जिसका राजा प्रजापालक, साधु-सन्तों, योगाभ्यासियों का रक्षक और धार्मिक एवं न्यायशील हो। अधार्मिक, अन्यायी या क्रूर राजा हो तो उस राज्य में दमन, कलह, अत्याचार आदि का आधिक्य रहेगा और उस अवस्था में यह सम्भव नहीं कि योगी की कुटिया का वातावरण भी क्षुब्ध न हो पाये। इसीलिए योग साधक को श्रेष्ठ राज्य में रहने का निदेश है।

उस राज्य और स्थान का निरुपद्रव रहना इसीलिए आवश्यक है कि उपद्रव ग्रस्त क्षेत्र में भय, शंका और आतङ्क

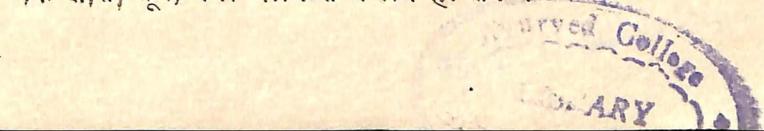
का साम्राज्य छाया रहता है, योगाभ्यास में विघ्न स्वरूप सिद्ध होता है। अतः साधक को अपनी साधना के लिए निरुपद्रव प्रदेश चुनना चाहिए।

‘सुभिक्षे’ का अर्थ है सुकाल रहना। जिस राज्य में अन्न बहुत उत्पन्न होता हो, अनावृष्टि आदि के कारण कभी अकाल न पड़ता हो, जिससे कि योगी को शरीर-रक्षार्थ आहार की प्राप्ति में सुभिक्ष हो, वहीं रहकर साधन करना श्रेयस्कर हो सकता है।

अथवा ‘सुभिक्ष’ का आशय श्रेष्ठ भिक्षा से भी है और जिस राज्य में श्रेष्ठ भिक्षा मिल सकती हो, वही साधक को भोजनादि की अनुकूल सुविधा हो सकती है। इसलिए जिस राज्य में बाधा उपस्थित न हो सके।

‘धनुष प्रमाण’ का आशय है चार हाथ परिमाण, जहाँ आसन के चारों ओर चार-चार हाथ तक शिला, जल और अग्नि न हो इस कथन का अभिप्राय यह है कि बैठने के स्थान के चारों ओर भी इतनी स्वच्छता हो कि कोई वस्तु पड़ी न रहे। शिला अर्थात् पत्थर रहने से, उठने पर ठोकर लगने का भय हो सकता है, और जल, अग्नि भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि उनसे सर्दी गर्मी से होने वाले विकारों की सम्भावना हो सकती है। इस प्रकार विकार हीन वातावरण से युक्त स्थान चनना चाहिए।

‘मठिकामध्ये स्थातव्य’ अर्थात् ‘मठिका बन वाले इसमें ‘मठिका’ का अर्थ छोटी कुटिया से है, मठ से नहीं। क्योंकि मठ तो बड़ा होता है और योगी साधक को बहुत बड़ा स्थान हितकर नहीं होता। मठिका भी इसलिए बनवाने का निर्देश है कि शीत, धूप, वर्षा आदि से बचाव हो सके।



इस प्रकार योगी को श्रेष्ठ राज्य, सुन्दर स्थान, छोटी कुटी बना कर सुभिक्ष युक्त एवं निरुपद्रव स्थान में रहकर अभ्यास करना चाहिए, इसी में उसका कल्याण है।

अल्पद्वारमरंधर्गत्विवर नात्युच्चनीचायतं ।

सम्यग्गोमयसांद्र लिप्तममलं तिःशेषजंतूज्जितम् ॥

बाट्येमंडपवे तकूपरुचिरं प्राकारसवेष्टितं ।

प्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिद्धिः ॥ १३

टीका—उस कुटी का द्वार छोटा हो, छिद्र और गड़ों से रहित हो, उसमें विल भी न हों, उसका स्थान ऊँचा नीचा न हो, गोवर से चिकना लिपा हुआ हो, जीव-जन्तुओं से वर्जित हो; कुटी के बाहर के स्थान में एक मण्डप बना हो, जिसमें वेदी और सुन्दर कूप हो तथा प्राकार अर्थात् भित्ति से घिरा हो। योग कुटी के यह लक्षण हठयोग के अभ्यासी सिद्धों ने वताये हैं ॥१३॥

ठथाखच्चा—कुटी का द्वार छोटा रखना चाहिए। यह इसलिये कोई विशालकाय पशु आदि का उसमें प्रवेश न हो सके। उसमें छेद अर्थात् खिड़ी य भरोखे भी न हों, अन्यथा शीतकाल में ठण्डो हवा, ग्रीष्म काल में उष्ण वायु अर्थात् लू और वर्षा ऋतु में वर्षा की झूँदों का कुटी के भीतर प्रवेश होने से साधक को कष्ट हो सकता है और अभ्यास में विघ्न पड़ सकता है।

कुटी में गढ़े हों, या ऊँचा-नीचा स्थान हो तो साधक को बैठने में असुविधा होगी, जिससे अभ्यास में चित्त का लगना भी कठिन हो जायगा। ऊँचे-नीचे स्थान का अभिप्राय यह भी है कि स्थान अधिक ऊँचाई पर होगा तो चढ़ने में और अधिक

निचाई पर होगा उतरने में कष्ट होगा। परन्तु कुछ अनुभवी साधक ऊँचे-नीचे स्थान के होने में कोई दोष नहीं मानते। उनका मत है कि ऊँचे-नीचे स्थानों में साधारण मनुष्य परिश्रम के कारण कम ही पहुँच पाते हैं, इससे एकान्त बना रहता है और भीड़-भाड़ तो कभी हो ही नहीं पाती।

कुटी को गोबर से चिकनी लीपनी चाहिए। गोबर में कृमि नाशक शक्ति है, इसलिए ढाँस मच्छर आदि बहुत कम हो पाते हैं और इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने भी ‘निशेष-जन्तुजिभतम्’ कहकर ‘जीव-जन्तु रहत’ रखने का उपदेश दिया है।

बाट्य प्रदेश में मण्डप और वेदी बनाने के निर्देश से यज्ञ की ओर संकेत मिलता है। इसका आशय यह है कि साधक को किसी विधि-विधान के अनुसार यज्ञ या होम का अपेक्षा हो तो वह सरलता से कर सके और कूप तो अत्यन्त आवश्यक है ही। व्यांकि जल की महिमा अन्न से भी अधिक है, इसके बिना शरीरधारी को प्राण-धारण में भी बहुत कठिनाई होती है। यदि कुटी में ही ताजा जल मिल सके तो उससे बहुत सुविधा रहती है।

प्राकार अर्थात् परकोटा खींचना भी कम आवश्यक नहीं है। इसमें हिंसू पशुओं और कूर अधर्मी मनुष्यों का भय नहीं रहता। इसलिए कुटी के चारों ओर दीवार खिचवाना अनावश्यक नहीं मान सकते।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिताविवर्जितः ।

गुरुष्विष्टमार्गेण योगमेव समन्वयेत् ॥ १४

टीका—इस विधि से मठ बनाकर और सभी प्रकार की चिन्ताओं का त्यांग करके साधक गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से योग का ही अभ्यास करे ॥१४॥

ठच्याख्या—उपर्युक्त प्रकार से मठ बनाने के पश्चात् सबसे पहला कार्य है सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करना, क्योंकि यदि किसी प्रकार की चोड़ी सी भी चिन्ता या कामना शेष रहेगी तो योगाध्यास में चित्त नहीं लगेगा और जब चित्त न लगेगा तो ध्यान भी नहीं बन सकता। इसीलिए नारदपरिव्राजकोपनिषत् में कहा गया है ‘रागद्वेष वियुक्तात्मा समलोष्टाशमकांचनः’ अर्थात् ‘राग-द्वेष को मनमें न आने दे और स्वर्ण, पाषाण, मृत्तिका को एक समान समझे।

गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलता हुआ योगाध्यास करे। क्योंकि गुरु ही योग विधियों को ठीक प्रकार से बता सकता है। अभिप्राय यह कि गुरु के बिना योगविद्या का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। योग के साधन में अध्यास की अवश्यकता होती है और अध्यास बिना अनुभव के सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए जिज्ञासु को गुरु की शरण में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का उपदेश है। जो साधक वसा नहीं करते वे अनेक प्रकार की हानि उठाते हुए प्रातः असफल ही रहते हैं।

योग के अध्यास में प्राणजय किया जाता है, क्योंकि जिसने वायु पर विजय प्राप्त करली, उसने मानों सर्वस्व ही प्राप्त कर लिया। ‘अत्पकाल’ भयाद् ब्रह्मा प्राणायाम पराभवेत् (यो, चू. उ.) अर्थात् ‘काम के भय से ब्रह्मा भी प्राणायाम परायण रहते हैं।’ इसीलिए यह कहना अयुक्त नहीं कि योग का ही अध्यास करे। क्योंकि अध्यास का महात्म्य अत्यधिक है—

अध्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।

मनः प्रशस्तमायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥

—योग वासिष्ठ ५।७८।४६

अर्थात्—अध्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और तब केवल निर्वाण ही शेष रहता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से कुटी निर्माण करके गुरु द्वारा बतायी विधि के अनुसार योग के अध्यास में ही तत्पर रहना चाहिए। यही इस ग्रन्थ की शिक्षा है।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रज्ञत्पो नियमप्रहः ।

जनसङ्गश्च लौत्य च षड् भिर्योगो विनव्यति ॥ १५

टीका—अति भोजन, प्रयत्न, अधिक बोलना, नियमों प्रहण, मनुष्यों का संग और चंचलता, यह छः वाधाएँ योग को नष्ट करने वाली हैं ॥१५॥

ठच्याख्या—अधिक भोजन करना निषिद्ध माना गया है, क्योंकि उससे आलस्य की वृद्धि होती है और जठरानल दीप्त न हुई तो उसका परिपाक भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। इसीलिए योगशास्त्रों में मिताहार या अल्पाहार का प्रशस्त माना गया है। ‘ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः (यो. चू. उ.) अर्थात् योगी को ब्रह्मचारी, मिताहारी और योगा परायण रहना चाहिे।’

‘प्रयास’ का अर्थ है प्रयत्न। जिस कार्य में अधिक प्रयत्न करना पड़े उसका त्याग करना ही शेषस्कर है। क्योंकि योगाचार्यों ने योगाध्यास से भिन्न परिश्रम करना प्रशस्त नहीं माना है और यह ठीक भी। जब वह सभी चिन्ताओं और कामनाओं का ही परित्याग कर चुका तब उसके लिए योग-भिन्न परिश्रम की ही अपेक्षा क्यों रहनी चाहिए? इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने प्रयास का वर्जन किया है।

प्रजल्प का अर्थ है बकवाइ। अधिक बोलना प्रजल्प ही है। उससे द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, अहंभाव आदि की वृद्धि होती है, क्योंकि वाद विवाद में किसी से अपनी निन्दा के बचन सुनने से उक्त भाव की सम्भावना स्वाभाविक है और इसीलिए योग-शास्त्रों में साधक को जनसंग विवर्जित होने का उपदेश दिया गया है और यहाँ भी 'जनसगश्च लौल्प्त च' कहकर मनुष्यों का संग न रखने का तो निर्देश है ही, साथ ही मन की चंचलता को भी नष्ट करने का निर्देश निहित है।

'नियमग्रह' का निषेध करके ग्रन्थकार ने योगी के नियमों के प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया है। उसके अनुसार योगाभ्यासों को किसी प्रकार का नियम पालन करने को आवश्यकता नहीं है। प्रातःकाल ठण्डे जल में स्नान, रात्रि में ही आहार अथवा फल का आंहार करने आदि का भी उसके लिए कोई नियम नहीं है। क्योंकि योग मार्ग में तो प्राणवायु का निरोध ही सर्वोपरि क्रिया है। योगी का तो वही यम, नियम आदि सभी कुछ है। इसलिए हठयोग के अनेक विद्वानों ने योग के आठ अंगों के स्थान पर छः अंग ही माने हैं, जिनमें यम, नियमों को छोड़ दिया है।

इस प्रकार योग-साधक को इन अत्याहोर आदि छः कर्मों को प्रति बन्धक मानकर योग को नष्ट करने वाला माना है। क्योंकि इनसे कामादि विकारों की उत्पत्ति या वृद्धि होती है। ग्रन्थकार का अभिप्राय भी इनके त्याग का उपदेश करते हुए इनको दोष-दर्शन करना ही है। इसलिए साधक का कर्तव्य है कि वह छओं कर्मों का सर्वया त्याग करने में ही कल्याण समझे।

उत्साहात्साहसाद्वै यतित्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।

जनसंगपरित्यागात्पद्भिर्योगः प्रसिद्धयति ॥१६॥

टीका—उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय और जन-सङ्ग का परित्याग इन छः के द्वारा योग को सिद्धि होती है ॥१६॥

ब्याख्या—उद्यम रूप उत्साह के बिना प्रकृति नहीं हो सकती, इसलिए जिज्ञासु के चित्त में याग के लिए उत्साह होना आवश्यक है और जब उत्साह होजाय तब कौन-सा साधन साध्य है और कौन-सा असाध्य? इस पर विचार करके योग की प्रवृत्ति रूपी साहस के साथ धैर्य की अपेक्षा होती है। क्योंकि साधक में धैर्य होगा तभी वह कठिन योग-साधन में लगा रह सकता है। योग को सिद्धि कोई ऐसो वस्तु तो है नहीं जो विचार करते ही सद्धि हो जाय, उसमें तो दीर्घकालीन अभ्यास करना होता है और वही साधक सफल होता है जो धैर्यपूर्वक उसमें लगा रहे, अन्यथा धैर्य के नष्ट होते हो चित्त के न लगने से साधना ही समाप्त हो जाती है।

धैर्य का अर्थ खेद का अभाव भी हैं जो साधक खेद रसित रूप से सभी विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ दृढ़तापूर्वक लगा रहे, वह धैर्य ही साधक को सिद्ध बना देता है। इसलिये सिद्धि को आकांक्षा वाले साधक को धैर्य पूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिए।

तत्त्व ज्ञान क्या है? विषय मृग तुष्णा के जल के समान मिथ्या है, आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है, जो जीव है वही ब्रह्म हैं और ब्रह्म ही सत्य है यही ज्ञान रूप तत्त्व ज्ञान है। जब ऐसा ज्ञान हो जाता है तभी साधक अपने मोक्ष के हेतु योगाभ्यास में लगा रह सकता है। ईशावास्योपनिषद् में कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभय ७ स ह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमशनुते ॥

अर्थात्—जो मनुष्य विद्यारूप ज्ञान तत्त्व और अविद्यारूप कर्म तत्त्व को साथ-साथ ही ज्ञान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपयोग करता है ।

निश्चय का अर्थ है विश्वास । शास्त्र और गुरु के वाचयों में शब्दा और विश्वास का होने से ही अभ्यास की सिद्धि हो सकती है । जिस कार्य में अविश्वास या अशब्दा हो तो उसकी सफलता का प्रश्न हो नहीं उठ सकता । इसलिए यदि विश्वास रूप निश्चय हो तभी योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए ।

योगी को जन-संग का परित्याग अत्यावश्यक है । पहले भी कह चुके हैं । इसीलिए योगाभ्यासी को एकांकी रहना श्रेय-स्कर बताया गया है ।

इस प्रकार उक्त छओं के द्वारा योग की सिद्धि शीघ्र हो सकती है ।

यम-नियम वर्णन

“अहिंसा सत्यस्तैय ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।

दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १७

तपः सत्तोष आ तवय दानमोश्वरपूजनम् ।

सिद्धान्तवाक्यथदणं ह्रीमती च तपो हतम् ।

नियमा दशसंग्रेकता योगशास्त्रविशारदै” ॥ १८

टीका—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच यह दश यम हैं तथा

तप, सत्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर का पूजन, सिद्धान्त वाक्य श्रवण, लज्जा, बुद्धि, तप और होम यह दश नियम हैं ॥१७—१८॥

छ्याख्या—अनेक विद्वानों के मत में यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं, परन्तु साधक के लिए “यम-नियमों का होना अनपेक्षित न होने में इनकी व्यावहारिकता अमान्य नहीं है । बहुत से सिद्ध योग के आठ अंग मानते हैं, उनमें यम, नियम दोनों अंगों का प्रारम्भ में ही उल्लेख है, परन्तु जो षडांग योग को मानते हैं, वह यम, नियम को योग के अंगों में नहीं गिनते ।

महर्षि पतंजलि ने यम, नियमों का वर्णन इस प्रकार किया है—‘अहिंसासत्यास्तैयब्रह्मचर्यं परिग्रहा यमा’ और जाति देशकालसमयानवाच्छन्नाः सावर्भौमामहाव्रतम्’ (यो द. २।३०-३१) अर्थात् ‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह पाँच यम’ एवं ‘जाति, देश, काल, समय में आवद्ध न होकर (इन यमों का पालन करना महाव्रत है ।

शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायैश्वर प्रणिधानानिनियमः (यो. द. २।३२) अर्थात् ‘शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय’ और ईश्वर की शरण लेना यह नियम है । इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन में बहुत-से सूक्ष्म यम-नियमों को समझाने के लिए लिखे हैं अतएव यम-नियमों की आवश्यकता को अमान्य नहीं कर सकते ।

हटस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।

कुर्यात्तदासनं रुथर्यमारोषं चागलाघयम् ॥ १८

टीका—आसन हठयोग का प्रथम अंग है, इसलिए पहले आसन को ही कहते हैं, आसन करने से साधक को स्थैर्य, आरोग्य और गलाघवत्व की प्राप्ति होती है ॥१८॥

ठ्याख्या—योग के जो अंग बताये हैं उनमें आसन प्राणायास, मुद्रा, नादानु सन्धान, प्रत्याहार आदि अंगों में आसन प्रथम अंग है। इसीलिए ग्रन्थकार ने उसका सबसे पहले वर्णन किया है। आसन शरीर और मन की चंचलता को नष्ट करने वाला होता है इसी से उसे स्थिरता रखने वाला कहा है।

आसन का साधन करने से साधक निरोग रहता है। कोई रोग हो तो नष्ट हो जाता है। योग-साधन में साधक का योग-रहित रहना ही मन की स्थिरता में सहायक है। उसी से लाघवादि विभिन्न सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है। अंगों की लाघवता से तमोगुण का विकार भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार आसन के द्वारा चित्त विक्षेप कारक त्रिगुणात्मक विकारों का दमन होकर योगाभ्यास में दृढ़ता प्राप्त होती है तथा भूख-प्यास, रोग आदि की भी निवृत्ति होती है। ग्रन्थकार ने इसे योगाभ्यास का प्रारम्भिक अंग मानकर सर्व प्रथम इसका वर्णन किया है।

आसनादि कथन

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ।
अज्ञीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचित्मया ॥ २०

दीक्षा:—वसिष्ठ आदि मुनियों और मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने जिन आसनों को अंगीकार किया है, उनमें से कुछ प्रमुख आसनों का वर्णन किया जाता है ॥२०॥

ठ्याख्या—मुनियों का अर्थ है मनन करने वाले। मुनियों में वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ हुए हैं और योगियों में श्रेष्ठ हुए हैं

मत्स्यनाथ आदि, जिनके नाम पहले कह चुके हैं। उन मुनियों और योगियों ने असंख्य आसनों का वर्णन किया है। भगवान् आदिनाथ शिव ने तो चौरासी लाख आसन कहे थे। परन्तु उनमें से चौरासी आसनों का हाँ प्रमुख रूपसे चयन किया गया।

तत्त्वशब्दान् विद्वानों ने देखा कि उन चौरासी आसनों में भी अनेक आसन कठिन और कष्ट साध्य हैं, सधारण साधक उन्हें बहुत प्रयत्न पूर्वक भी करने में समर्थ नहीं हो सकता तो उन्होंने उनमें से भी जो अधिक प्रमुख, सरल और सुसाध्य प्रतीत हुए, उनका चयन किया और जिज्ञासुओं के लाभार्थ प्रकट कर दिया। यहाँ उन्हीं आनन्दों पर ग्रन्थकार ने प्रकाश डाला है।

मुनियों और योगियों कहकर योगवेत्ताओं की दो श्रेणियाँ यहाँ प्रमुख रूप से बताई हैं। इसका आशय यह समझना चाहिए कि मुनियों का मनन अर्थात् अध्ययन अधिक था और योगियों को अभ्यास की अधिकता थी। फिर भी यह नहीं कह सकते कि वसिष्ठादि में कुछ न्यूनता थी या मत्स्येन्द्रादि में कुछ विशेषता। अनेक विद्वानों का मत तो यह है कि वसिष्ठादि मुनि योगाभ्यास में तो सिद्ध थे ही, उनकी मनन क्षमता भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, जिसे विशेषता ही कह सकते हैं।

स्वस्तिक आसन

जानूर्वोरंतरे सम्यककृत्वा पादतले उभे ।

ऋजुकायः समांसोनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ २१

दीक्षा—जानु और जंघाओं के मध्य मध्य में अस्यक प्रकार से पाँवों के तलुए लगाकर समान अवस्था में बैठे, वह स्वस्तिक आसन कहलाता है ॥२१॥

ठ्याख्या—पाँवों की एड़ियों को घुटनों और जंघाओं के मध्य लगाकर बैठने से स्वस्तिकासन होता है । शाण्डिल्योपनिषत् में भी इस आसन का यथावत् वर्णन किया है, इसलिए उसका पुनर्कथन अनावश्यक है ।

गोमुख आसन

सब्दे दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपाश्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सब्दं गोमुखाकृतिः ॥ २२

टीका—कटि के बाँधी ओर दाँया गुल्फ (रखना) और दाँये भाग में वाँए रखने को लगाकर आसन करने से जो गोमुख के समान आकृति हो जाती है, उसे गोमुखासन कहते हैं ॥ २२ ॥

ठ्याख्या—यह स्पष्ट रूप में इस प्रकार है कि पीठ के दाँधी ओर दाँया गुल्फ और बाँधी ओर बाँया गुल्फ जोड़कर गोमुख के समान बैठना ही गोमुख आसन है । गोमुखासन का सीधा-साधा अर्थ है गौ के मुख के समान आकार बनाकर बैठना ।

यद्यपि यह आसन बहुत साधारण है, परन्तु किसी सद्गुरु के निर्देशन बिना इसका सिद्ध होना कठिन ही है । इनका अध्यास बार-बार करने से ही इसमें सफलता मिल सकती है ।

यह आसन स्नायुओं की निर्बलता, गङ्गड़ी, वातरागणिदि को दूर करने वहुत उपयोगी माना जाता है ।

वीरासन

एकं पाद तथैकस्मिन्यसेदुर्लिङ्ग स्थितम् ।
इतरस्मिन्यथा चोरु वीरासनमितीरितम् ॥ २३

टीका—अब वीरासन का वर्णन करते हैं कि एक पाँव

बाँधी जाँध पर और दूसरा पाँव दाँधी जाँध पर रखकर बैठने से वीरासन होता है ॥ २३ ॥

ठ्याख्या—वीरासन का अर्थ है वीरों के समान बठना । यह आसन बहुत साधारण होता हुआ भी किसी जानकार से न जान लिया जाय जब तक ठीक प्रकार से नहीं बन पाता ।

कूर्मासन

गुदं निरद्धन्त्र गुल्फाभ्यां भ्युत्क्रमेण सत्ताहितः ।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २४

टीका—दोनों टखनों से गुद्य प्रदेश को विपरीत क्रम रोककर समाहित रूप से बैठने पर योगवेत्ताओं के कथनानुसार कूर्मासन होता है ॥ २४ ॥

ठ्याख्या—टखनों को एक-दूसरे के विपरीत क्रम से गुदा पर लगाने से यह आसन बनता है । इसमें साधक को कछुए जसी आकृति बनानी होती है । जो कि शरीर ग्रीव और सिर को सीधा रहने से हो पाती है ।

कुकुटासन

पद्मासनं तु संस्थाप्य ज नूर्वोरंतरे करौ ।

निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुकुटासनम् ॥ २५

टीका—पद्मासन लगाकर जंघाओं के मध्यभाग में दोनों हाथों को लगा कर तथा उन हाथों को पृथिवी में टिकाकर आकाश में स्थित रहने से कुकुटासन होता है ॥ २५ ॥

ठ्याख्या—से लगाने के लिए प्रथम पद्मासन लगा बैठना चाहिए । साधक अपने हाथों का जोर धरती पर ढालता हुआ जंघाओं की दरारों में लगाकर हथेलियों को भूमि पर टिका

कर शरीर को कमल की आकृति में भूमि ते ऊँचा उठावे । इस आसन की सिद्धि मुर्गे का आकार बनाकर बैठने से हो जाती है ।

यह आसन अन्य आसनों की अपेक्षा अधिक हितकर है । इसे बालक भी घर पर रह कर आसानी से लगा सकते हैं । इसके अभ्यास से पहले पद्मासन का अभ्यास कर लिया जाय तो यह और भी सरल हो जाता है ।

उत्तान कूर्मासन

कुकुटासनबंधस्थो दोधर्या सन्ध्य कन्धरास् ।
भवेत्कूर्मबदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २६

टीका - उक्त कुकुटासन का बन्धन लगाकर ग्रीवा को दोनों भुजाओं से बांध ले और ककुए के समान सीधा हो जाय तो यह उत्तान कूर्मासन हो जाता है ।

च्याख्या—अपने पाँवों का बन्धन कुकुटासन के समान लगाकर अपने कन्धों को हाथों से पकड़ ले और तब अपने को कछुए के समान पृथ्वी पर फैलावे । इस प्रकार उत्तान कूर्मासन हो जाता है । इस आसन के अभ्यास से शरीर में लचीला पन आ जाता है । बालक भी इसे सरलता से कर सकते हैं ।

धनुरासन

पादांगृष्ठो तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्वणावधि ।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २७

टीका—दोनों पाँवों के अँगूठों को हाथों से ग्रहण करके धनुष के समान कान तक खींचे, वह धनुरासन कहलाता है ॥२७॥

च्याख्या—धनुरासन का अभिप्राय है धनुध जैसा आकार बना लेना । इस आसन से भी शरीर लचीला होता है और अस्थियां हड़ हो जाती हैं । यह मस्तिष्क को नवीन स्फूर्ति देने वाला होने के कारण शारीरिक और मानसिक बल की वृद्धि करता है ।

मत्स्येन्द्रासना

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं

जानोर्बहिर्वैष्टितवामपादम् ।

प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः

श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्वात् ॥ २८ ॥

टीका—वामोरु मूल में दक्षिण पाँव को रख कर वाम पाँव को जानु से बाहर ले जाकर हाथ से लपेट कर पकड़ले और फिर वाम भाग की ओर से पृष्ठ भाग की ओर मुख कर जिस स्थिति में टिके उसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं । यह मत्स्यनाथ ने कहा है ॥२८॥

च्याख्या—योगासनों में यह आसन बहुत कठिन है । मत्स्येन्द्रनाथ पहले मत्स्य थे, फिर अदिनाथ शिव की कृपा से ही योगी बने थे । इसीलिए उन्होंने अपने पूर्व स्वाभावानुसार इस आसन की कल्पना की थी ।

घेरण्ड संहिता में इस आसन का वर्णन निम्न प्रकार से हुआ है—

उदरं पश्चिमाभास कृत्वा तिष्ठति यत्नतः ।

निम्नांगवामपादं हि दक्षजानुपरिस्त्यसेत् ॥

तत्याम्यं कृपरं च याम्ये करे च वक्त्रकम् ।

ध्रुवोर्मष्येगतां हृष्टि पीठं मात्स्येन्द्रं मुच्यते ॥

अर्थात्—उदर को पीठ के समान सरल और स्वाभाविक रख कर तथा बाँए पाँव को झुका कर दाँयी जांघ पर रखे। उस पर दाँयी कुहानी रख ले दृष्टि को भौंहों के मध्य में स्थिर करे। यह मत्स्येन्द्रासन कहा जाता है।

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीपितं

प्रचंडस्फमंडलखंडनास्त्रम् ।

अभ्यासतः कुंडलिनौप्रबोधं

चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥ २६ ॥

टीका—मत्स्येन्द्र पीठ की आकृति वाला यह आसन जठराग्नि प्रदीप करता और प्रचण्ड रोगों के खण्डनार्थ अस्त्र के समान होता है। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति की जागरण होता है और यह पुरुषों को चन्द्रमा की स्थिरता प्रदान करता है। ॥२६॥

ठ्याख्या—यह आसन मन्दाग्नि और उससे उत्पन्न रोगों को नष्ट करने वाला है। इससे चन्द्रमा द्वारा लबते हुए रस की स्थिरता होती है। परन्तु अधिक प्रयत्न से ही सिद्ध किया जा सकता है।

पश्चिमतान आसन

प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोभ्या पदाग्रहितयं गृहीत्वाः ।

जानूपरिव्यस्तललाटदेशो वसेदिवं पश्चिमतानमाहुः॥३०॥

टीका—दोनों पाँवों को दण्ड के समान धरती पर पसार कर दोनों पाँवों के अग्रभागों को दोनों ही हाथों से ग्रहण करके जानुओं पर ललाट देश को स्थापित करे। इस प्रकार की स्थिरता को पश्चिमतान आसन कहते हैं। ॥३०॥

ठ्याख्या—यह आसन सरल और श्रेष्ठ है, इसका अभ्यास साधारण पुरुष भी कर सकते हैं। अन्य ग्रन्थ में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

विस्तीर्यं पादयुगलं परस्परमसंयुतम् ।

स्वहस्ताभ्यां हडं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ॥

देहावसादानाशनं पश्चिमोत्तानं संज्ञकम् ।

य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ॥

अर्थात्—दोनों पाँवों को पृथक्-पृथक् फैला कर उनके अङ्गठों को हाथों द्वारा दृढ़तापूर्वक पकड़ ले और फिर शिर पर जानुओं को रखले। यह शरीर का आलस्य नष्ट करने वाला पश्चिमोत्तान संज्ञक है। बुद्धिमात् पुरुष को इस श्रेष्ठ आसन का साधन करना चाहिए।

इति पश्चिमतानमासनाग्यं पवनं

पश्चिमवाहिनं करोति ।

उदयं जठरानलस्थं कुर्याद्वदरे

कार्यमरोगतां च पुंसाम् ॥३१॥

टीका—यह सब आसनों में प्रमुख पश्चिमतान आसन प्राणवायु को अश्चिमवाहिनी कर देता है और जठराग्नि को प्रकट कर उदरस्थ कृशता और आरोग्यता को करता है। ॥३१॥

ठ्याख्या—यह आसन प्रमुख माना गया है। इससे दुबला-पतलापन दूर होकर जठराग्नि प्रदीप होती है। ‘येनशीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद दुःखोऽधरारिणी’ अर्थात् उसके द्वारा दुःख रोगादि नष्ट करने वाले प्राणवायु की सिद्धि होती है।

इस प्रकार यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर होने के कारण साधकों को अवश्य करना चाहिए।

मायूरासन

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपाश्वः ।
उच्चासनो दण्डवहुत्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठम् ॥३२॥

टीका—दोनों हाथों से पृथिवी का सहारा लेकर और मणि बन्धों के ऊपर नाभि के पाश्वद्वय के भागों को स्थापित करे । इस प्रकार यह दण्ड के समान उच्च आसन होता है, इसे मायूरासन कहते हैं ॥३२॥

छ्याख्या—यह मोर की आकृति जैसा बनाया जाता जिस प्रकार मोर अपने पतले पाँवों पर शरीर का पूर्ण भार संभालता है, उसी प्रकार साधक को अपने शरीर का भार अपने पाँवों के तलुओं पर डालना होता है ।

इस ग्रन्थ के वर्णन में घेरण्ड संहिता के वर्णन से स्वल्प हेरफेर है, फिर भी उसमें अधिक स्पष्टता व्यक्त होती है । उन्होंने कहा है—

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूर्परे स्थापित नाभिपाश्वम् ।
उच्चासनो दण्डवहुत्थितः ये मायूरमेतं प्रवदन्ति पीठम् ॥

अर्थात्—हाथों की हथेलियों को पृथिवी में टिकाकर और दोनों कुहनियों को दोनों पाश्वों को योजित करे तथा दोनों पाँवों को डडे के समान पीछे की ओर खड़ा करे तो । यह मयूरासन होगा ।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादो—
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादिशेषं
जनयति जठरार्णिन जारयेत्कालकूटम् ॥ ३३ ॥

टीका—यह आसन गुल्म, उदरोगादि सभी रोगों को नष्ट करता है तथा दोषों को भी दूर कर देता है । अधिक खाये हुए अन्न को भस्म करने और जठरार्णि प्रदीप करने में काल-कूट के समान है ॥३३॥

छ्याख्या—इस आसन के करने से उदर के सब रोग जैसे उदर शूल जलोदर प्लीहा आदि एवं वात पित्त, कफ आदि के विकृत होने से उत्पन्न दोषादि सब दूर हो जाते हैं । अधिक भोजन कर लेने से अजीर्ण आदि की प्राप्ति हो सकती है । परन्तु इस आसन के करने से वह अन्न शीघ्र ही भस्म हो जाता है । इस प्रकार यह आसन उदर ठीक रखने के लिए भी करना चाहिए ।

शवासन

उत्तानं शववदभूमौ शयनं तच्छवासम् ।

शवासनं श्वांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥३४॥

टीका—पाठ को शव के समान धरती पर लगाकर सीधा सोजाय, यह शवासन है । इससे श्रम का शमन होता और चित्त को विश्राम मिलता है ॥ ३४ ॥

छ्याख्या—इसका आकार उस प्रकार का होता है, जिस प्रकार कि कोई मुर्दा सो रहा हो । इस आसन के अभ्यास से सब प्रकार का परिश्रम दूर हो जाता है और चित्त की चंचलता भी नष्ट हो जाती है ।

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।

तेष्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रह्मोम्यहम् ॥३५॥

टीका—शिवजी ने चौरासी आसनों का कथन किया है उनमें चार आसन सारभूत हैं, उन्हें कहता हूँ ॥ ३५ ॥

ब्याख्या—शिवजी ने चौरासी लाख आसन कहे थे, उनमें से चौरासी को उपयोगी पाया और फिर उन चौरासी में भी जब अधिक उपयोगिता और सरलता खोजी गई तो उनमें से चार आसन ऐसे पाये गये, जो उन सब में सारभूत थे। घेरण्ड संहिता में कहा है—

आसनानि समस्तानि भावन्तो जीव जन्तवः ।
चतुरशीति लक्षणं शिवेनाभिहितानि च ॥

अर्थात्—संसार में जितने जीव-जन्तु हैं। उतने ही आसन हैं। इस प्रकार शिवजी ने चौरासी लाख आसन बताये हैं।

उन चौरासी लाख में से 'बोडशोनंशतं कृतम्' (घं. सं.) अर्थात् 'चौरासी श्रेष्ठ हैं।' उनमें से भी ग्रन्थकार ने निम्न चार सारभूत कहा है—

सर्वश्रेष्ठ चार आसन

सिद्धं पदमां तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेनिद्वासने सदा ॥३६॥

टीका—यह चार आसन अत्यन्त श्रेष्ठ हैं—सिद्वासन, पदमासन, सिहासन और भद्रासन। इनमें भी जो सिद्वासन है उसमें योगी सुखपूर्वक बैठ सकता है ॥३६॥

ब्याख्या—उक्त चौरासी आसनों में जो चार आसन कहे, उनमें भी सिद्वासन को और भी श्रेष्ठ माना है और साथ ही यह भी संकेत किया है कि इसमें योगी सुखपूर्वक स्थित हो सकता है। अब उस आसन का स्वरूप वर्णन करते हैं।

सिद्वासन

योनिस्थानकमांग्रिमूलघटितं कृत्वा दृढ़ं विन्यसे-
न्मेन्द्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितैदियोऽजलदृशा पश्मेद्ध्रुवोरंतरं
हृयेतन्मोक्षकपांटभेदजनके सिद्वासनै प्रोच्यते ॥३७॥

टीका—योनि स्थान से बाँए पाँव की एड़ी को मिलावे और दाँये पाँव को लिंगेन्द्रिय के ऊपर से दृढ़ता से रखे तथा हृदय के निकट ठोड़ी को ठीक पर से रखे। ऐसा निश्चल योग अपनी एक रस हृष्टि से भौंहों के मध्य में देखे। यह अभ्यास मोक्ष-मार्य में लगे हुए कपाट को खोलने वाला सिद्वासन कहलाता है ॥ ३७ ॥

ब्याख्या—यह आसन बहुत सरल और कष्ट-रहित है। इनका वर्णन अन्यत्र इस प्रकार मिलता है—

योनिसंपीड्ययत्नेन पादमूलेन साधकः ।
मेद्रोपरि पादमूलं विन्यसेद् योग वित्सदा ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलोनियतेन्द्रियः ।
विशेदवक्कायाच रहस्युद्वेगवज्जित ।

एतत् सिद्वासन प्रोवतं सिद्वानांच शुभ प्रदम् ॥

अर्थात्—प्रयत्न पूर्वक योनि स्थान का एक एड़ी से संपीड़न करे और दूसरी एड़ी को मेद्र पर रख ले। तथा भौंहों के मध्य में हृष्टि को स्थिर करे। इस प्रकार उद्वेग-रहित, सरल सीधा रहकर स्थित हो, यह सिद्वों को शुभदायक सिद्वासन है।

मेद्रादुपरि विन्यस्य सवयं गुल्फं तथोपरि ।
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्वासनमिदं भवेत् ॥३८॥

टीका—मेढ़ के ऊपरी भाग में बाँई एड़ी को रखे और बाँए पाँव के ऊपर दाँये टखने को रखकर बैठे तो यह सिद्धासन है ॥ ३८ ॥

ब्याख्या—यह सिद्धासन मत्स्येन्द्रनाथ के मत से भिन्न मत का है। ग्रन्थकार ने यहाँ इसका भी वर्णन करना उचित समझा है। आसन-वर्णन के इन प्रकारों में समानता है, परन्तु साधकों को इनका समन्वय करके, जिस स्थिति में सुविधा हो, उसी स्थिति में बैठना चाहिए।

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ।

मुक्तासनं वदत्येकं प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३९ ॥

टीका—इस सिद्धासन को ही कोई विद्वान् वज्रासन भी कहते हैं। किसी के मत में यह मुक्तासन है और किसी के कथनानुसार गुप्तासन भी है ॥ ३९ ॥

ब्याख्या—यहाँ इस एक आसन के ही चार नाम कहे हैं—सिद्धासन, वज्रासन, मुक्तासन और गुप्तासन। परन्तु अन्य विद्वानों ने इन चारों को पृथक्-पृथक् माना है। घेरण्ड संहिता में इनका भेद इस प्रकार बताया है—

जंघाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदघाश्वे पदावुभौ ।
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम् ॥
वायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
शिरोग्रीवासमं कार्यं मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ॥
जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत् ।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ॥

अर्थात्—दोनों जांधों को वज्रवत् कठोर करके दोनों पाँवों को गुदा के दोनों ओर लगावे तो योगियों को सिद्धि देने

वाला वज्रासन होता है। गुदमूल में बाँयी ऐड़ी लगाकर उस पर दांयी एड़ी रखले और शिर तथा ग्रीवा को समान भाव से रखकर शरीर को सीधा रखकर बैठे। यह सिद्धप्रद मुक्तासन है। दोनों घुटनों के मध्य में दोनों पाँवों को गुप्त भाव से रखकर गुह्य प्रदेश को पाँवों में ही रख लें, यह गुप्तासन कहलाता है।

इस प्रकार अन्यत्र यह चारों आसन पृथक्-पृथक् बताये गये हैं।

सिद्धासन-प्रशंसा

यमेष्विव मिताहारमहिसां नियमेष्विव ।

भुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ४० ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ।

द्वासप्ततिसहस्राथां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ४१ ॥

आत्मध्याय मिताहारो यावद्वादशवत्सरम् ।

सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

टीका—जैसे यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा मुख्य है, वैसे ही सब आसनों में सिद्धासन को ही विद्वान् सिद्धों ने प्रमुख बताया है। इसलिए चौरासी आसनों में मुख्य सिद्धासन का सदा अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इसके द्वारा बहत्तर हजार नाड़ियों का मलशोधन होता है। आत्मा का ध्यान और मिताहार करता हुआ साधक यदि बारह वर्ष पर्यन्त सिद्धासन का अभ्यास करता है तो योग सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ४०-४२ ॥

ब्याख्या—दश यमों में मिताहार और दश नियमों में अहिंसा को अधिक श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार सब आसनों में सिद्धासन की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। शरीर में बहत्तर

हजार नाड़ियाँ हैं, उनका इस आसन के द्वारा शोधन होता है। सिद्धासन के अभ्यास-काल में साधक को मिताहारी रहना चाहिए और आसन में सुखपूर्वक बैठकर आत्मा के ध्यान में लीन हो जाना चाहिए श्लोक में 'आत्माध्यायी' कहकर इसी को पष्ट किया है और शिक्षा दी है कि आत्मा का ध्यान योग-साधन का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न किसी अन्य के ध्यान का पूर्णतया निषेध सिद्ध होता है।

**किमन्यैर्वहुभि पीठैः सद्धे सिद्धासने सति ।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥४३
उत्पद्यते निरासायात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव हठे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बन्धन्त्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥४४
नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ।
न खचरीसमा मुद्रा न सादसदृशो लय ॥४५**

टीका—जब सिद्धासन ही सिद्ध हो जाता है, तब अन्य अनेक आसनों के करने का क्या प्रयोजन है? इसमें प्राणवायु को सावधानी से संयत कर केवल कुम्भक सिद्ध करना चाहिए। इसके प्रभाव से चन्द्रकला सदृश्य उन्मनी कला परिथम के बिना ही सिद्ध हो जाती है तथा सिद्धासन के सिद्ध होते ही तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध हो जाते हैं सिद्धासन के समान कोई आसन, केवल कुम्भक के समान कोई कुम्भक, खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा और नाद के समान कोई लय नहीं है। ॥४३—४५॥

ठ्याख्या—योगाध्यासी यदि सिद्धासन को सिद्ध करले तो फिर उसे किसी अन्य आसन को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस आसन के साथ केवल कुम्भक करना अत्यन्त

प्रभावकारी होता है। इसके सिद्ध होने पर उन्मनी कला की अनायास सिद्ध हो जाती है तथा मूलबन्ध, उड़ीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध यह तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध होते हैं। बन्ध-सिद्ध में जो पाण्डित-मार्ग से लिंग को दबाकर गुदा का संको लिये करने आदि का विधान है, उसके करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए इस आसन को लगावे तथा दाँये पाश्व में बाँया टखना सके समान नहीं माना है।

बन्धन्त्रय की विशेषता प्रकट करते हुए योगचूडामण्ड्युपनिषद् में कहा है—

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्डयाणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वैत्ति स योगी मुक्ति भाजनम् ॥

अर्थात्—जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, ओड्डयाण बन्ध, जलन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जनता है वह मुक्ति का पात्र होता है।

पद्मासन कथन

वामोरुपरि दक्षिणं च चरणं संल्थाप्य वामं तथा ।
दक्षोरुपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकप्रे-
देतद्वचाधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोचयते ॥४६

टीका—बाँयी जंघा पर सीधे दाँये बाँव को ठीक प्रतार सीधा रखकर तथा वसे ही बाँये पांव को जांघ के ऊपर भले प्रकार रखे और पृष्ठ भाग की विधि से दोनों पांवों के अँगुठों को हाथों से पकड़ ले और फिर ठोड़ी को हृदय पर रख कर दृष्टि को नासिक के अग्र भाग पर स्थिर करे। यह रोगों को नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है। ॥४६॥

ठ्याँच्या—इसकी स्थिति इस प्रकार है कि पीठ पर दाँया हाथ ले जाकर बांयी जंघा पर स्थिति दाँये पाँव के अँगूठे को पकड़े और वैसे ही बांये हाथ को पीठ की ओर से ले जाकर दाँये पाँव के अँगूठे को पकड़ना चाहिए। और ठोड़ी को हृदय के निकट चार अँगुल की दूरी पर रखकर नाक के अग्र भाग पर हृष्टि जमाले। यह आत्म ग्रन्थकार ने अपने मतानुसार कहा है। अगले श्लोक में मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा वर्णित पद्मासन को कहेंगे।

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसस्थौ प्रयत्नतः ।
 ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशी ॥४७
 नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया ।
 उत्तं भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥४८
 इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
 दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भूवि ॥४९

टीका—सीधे फैलाये हुए पाँवों को जंघाओं पर प्रयत्न-पूर्वक स्थापित करके और जंघाओं के मध्य में हाथों को सीधे रखकर उपर्युक्त के समान हृष्टि को अपने नासाग्र में स्थिर रूप से लगावे और दाढ़ की जड़ को जिट्वा के द्वारा ऊपर स्तम्भित करे तथा ठोड़ी को हृदय पर रख ले। फिर वायु को धीरे-धीरे उठावे। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाला पद्मासन कहलाता है। यद्यपि यह दुर्लभ है तो भी बुद्धिमान् योगी किसी प्रकार प्राप्त कर सकता है॥ ४७-४९ ॥

ठ्याँच्या:—मत्स्येन्द्रनाथ ने पद्मासन की जो विधि बताई है, वह उनका अनुभव सिद्ध होने के कारण अव्यवहारिक

नहीं हो सकती। इसलिए साधक को पद्मासन की विभिन्न विधियों का अध्ययन करके उनमें जो सरल प्रतीत हो उसका प्रयोग करना चाहिए। योगकुण्डल्युपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

ऊर्वोरुपरि चेदधत्ते उभे पादतले यथा

पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपाप प्रणाशनम्

अर्थात्—दोनों जांघों पर एक-दूसरे के पैर के तल्खों को सीधे रखने से पद्मासन होता है, जो सब पापों को नष्ट करने वाला है।

यह है पद्मासन का सीधा और सरल वर्णन। श्लोक में वायु के उत्थापन की जो बात कही है, उसी क्रिया से मूलबन्ध की सिद्धि होती है। इससे यह मान्यता होती है कि मूलबन्ध की सिद्धि भी इससे स्वतः हो जाती है।

इन आसन के अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। यह दुर्लभ होते हुए भी प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लिया जाय तो सरल और सुखद हो जाता है। परन्तु इसकी यथार्थ रूप से सिद्धि तो गुह की कृपा से ही हो सकती है। उनके निकट बैठकर उन्हीं से निर्देशन में इसका अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

कृत्वासंपुटितौ करौ दृढतरं बद्धवा तु पद्मासनं
 गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायांश्च तच्चेतसि ।
 वारम्बारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
 न्यन्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्तरः ॥५०

टीका—दोनों हाथों को सम्पुटित कर हृपद्मासन वाँधे और ठोड़ी को हृद्धतापूर्वक हृदह के चित्त में बारम्बार आत्मा का ध्यान करे और अपर खींचता हुआ पूरक द्वारा खींचे हुए प्राण

करे। इससे मनुष्य शक्ति के प्रबुद्ध होने पर अतुल ज्ञान को प्राप्त होता है ॥५०॥

च्याख्या—पद्मासन के साथ की अन्य क्रिया और फल का भी इस श्लोक में संकेत मिलता है। इसके अनुसार पद्मासन को हड्डता से बांधकर ठोड़ी को हृदय के समीप करे और हृदय में आत्मा का ध्यान करता हुआ अपान को ऊपर की ओर खींचे और प्राण को नीचे की ओर ले जाय तो इससे प्राण-अपान का मेलन होता है। इस मेलन की सिद्धि होने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है, जो सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्ति कराने वाली है।

परन्तु उक्त क्रिया कोई सरल कार्य नहीं है, इसका ज्ञान गुरु के उपदेश से कर लेना आवश्यक है। योगाभ्यास से पूर्व उसकी जानकारी न करके केवल अभ्यास में लग जाना उचित नहीं है। क्योंकि क्रिया में भूल होने से किसी भी प्रकार की हानि हो सकती है।

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितस् ।

मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥५१॥

टीका—पद्मासन में स्थित हुआ योगी नाड़ी द्वार से पूरत किये गये वायु को स्थिर करे वह निःपन्देह मुक्त ही है ॥५१॥

च्याख्या—पूरक से मध्य में किये गये वायु को सुषुम्ना मार्ग के द्वारा शिर पर्यन्त पहुँचा कर स्थिर करने वाला योगी मुक्त हो जाता है। यह कुण्डलिनी-जागरण और उसके पश्चात् षट्क्रन्त-भेदन आदि की क्रिया का संकेत है, जिससे कि वायु के साथ कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में जा पहुँचती है। अवश्य उसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति हो जाती है और फिर योगाभ्यासी पुरुष के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। योगचूडामण्युपनिषद् में इसके विषय में कहा है—

प्रबुद्धावहिनयोगेन मनसा मरुता सह ।

सूचीवदगात्रमादाय व्रजत्यूह्वं सुषुम्नाया ॥

उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् ।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥

अर्थात्—अग्नियोग से जाग्रत हुई कुण्डलिनी मन-प्राण के सहित सुषुम्ना मार्ग से सुई के समान ऊपर की ओर चढ़ती है। जैसे कुंजी के द्वारा घर के किवाड़ खोले जाते हैं, वैसे ही योगी को कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष द्वार खोल लेना चाहिए।

सिंहासन कथन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवस्यः पाश्वर्योः क्षिपेत् ।

दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥५२॥

हस्तो तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ।

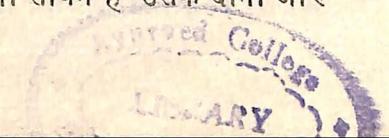
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥५३॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः ।

बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥५४॥

टीका—अन्दकोशों के नीचे सीवना नाड़ी के दोनों पाश्वों में टखनों को लगाव तथा दांये पाश्व में बांया टखना और बांये पाश्व में दांया टखना लगाना चाहिए। जानुओं के ऊपर हाथों के तलुवे ठीक प्रकार से लगावे और हाथों की अँगुलियों को फलाकर मुख को भी फलाले और नासाग्र में हष्टि लगा ले योगियों में श्रेष्ठ साधक द्वारा पूजित यह सिंहासन तीनों बधों का संधान करने वाला और उत्तम माना गया है ॥५२-५४॥

च्याख्या—सिंहासन से भी तीनों बन्धों की सिद्धि हो सकती है। इसमें वृषणों के नीचे जो सींवन है उसके दोनों ओर



टखनों को व्युत्क्रम से लगाया जाता है। इसके विषय में त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् में इस प्रकार कहा है—

सीवनी गुल्फ देशेभ्यो निपीडय व्युत्क्रमेण तु ।

प्रसार्य जाननोहस्तावासनं ८ हरूपकम् ॥

अर्थात्—दोनों एड़ियों से सींवन को विपरीत विधि से दबा कर दोनों घुटनों और हाथों को फैला कर स्थित हो तो यहाँ सिहरूपी आसन (सिंहासन) होता है।

ध्यान की स्थिरता के लिए, इस आसन के साथ, नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाने का निर्देश है। इसका आशय यह है कि साधक को नासिकाग्र में दृष्टि योजित कर अपने इष्टदेव अथवा आत्मा का ध्यान करना चाहिए। यह आसन भी श्रेष्ठ आसन माना गया है।

भद्रासन-कथन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सोवन्याः पाश्वर्योः क्षिपेत् ।

सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥५५

पाश्वर्यपादौ च पाथिभ्यां दृढ़ बद्धवा सुनिश्चलम् ।

भद्रासनं भवेदेत्तसर्वव्याधि विनाशनम् ॥ ५६

टीका:—अण्डकाषों के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों पाश्वर्य भागों में टखनों को इस प्रकार रखेंकि बाँगा टखना बांय पाश्वर्य में और दाँया टखना दांये पाश्वर्य में लगाले। फिर सींवनी पाश्वर्योंमें गये हुए पांवों को हाथों से बांधक दृढ़ और स्थिर करे तो यह सभी व्याधियों को नष्ट करने वाला भद्रासन हो जायगा ॥५५—५६।

व्याख्या:—इस आसन का वर्णन त्रिशिख ब्राह्मणो-पनिषत् में इस प्रकार मिलता है।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्युभयपाश्वर्योः ।

निवेश्य भमौ हस्ताभ्यां बद्धवा भद्रासनं भवेत् ॥

अर्थात्—सींवन के दोनों ओर दोनों एड़ियों को रखकर हाथ-पांवों को बांध कर बैठ जाय तो भद्रासन होता है।

इस आसन का महात्म्य कहते हुए इसे सभी रोगों का नाशक माना गया है। यथार्थ में योगाभ्यास के द्वारा अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं, यह सभी की मान्यता और अनुभव-सिद्ध भी है। योगी को इसे अभ्यास से सिद्ध कर लेना चाहिए।

गोरक्षासनमित्याहरिदं वै सिद्धयोगिनः ।

एवमासनवंदेषु योगीद्वा विगतश्रमः ॥ ५७ ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धि मुद्रादिपवनक्रियासु ।

आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५८ ॥

टीका:—सिद्ध योगी पुरुष इसी आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसन को बांधने से श्रम नष्ट हो जाता है। नाड़ी-शुद्धि की इच्छा वाला साधक मुद्रा आदि के द्वारा वायु का अभ्यास करे। आसन, विभिन्न कुम्भक, मुद्रा नामक करण का भी साधन करे ॥५७—५८॥

व्याख्या:—गोरक्षनाथ इसी का अभ्यास अधिकतर किया करते थे, इसलिए इसका नाम गोरक्षासन भी हुआ। इस आसन के द्वारा अभ्यास-काल में किये जाने वाले परिश्रम से थकान नहीं होती। उस योगी को उक्त आसन के साथ यह और करना चाहिए कि इडा नाड़ी के द्वारा बिना रुके प्राणवायु का पान करे और मुद्रादि को करता हुआ प्राणायाम का विधि पूर्वक साधन करे। इससे साधक को योगाभ्यास में शीघ्र सफलता मिल सकती है।

श्लोक में ग्रन्थकार ने यह भी परामर्श दिया है कि साधक

को इस आसन के साथ अनेक प्रकार के कुम्भक प्राणायामों और मुद्राओं का भी अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि साधक के लिए योग के यह सभी अंग आवश्यक और हितकर होते हैं।

अथ नादानुसंधानमध्यासानुक्रमो हठे ।

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥

अब्दादूर्ध्वं भवेत्सद्गो नात्रकार्या विचारणा ॥५६॥

टीका—उक्त प्रकार अभ्यास करने पर नाद का अनुसंधान करे। ब्रह्मचारी, मिताहारी, त्यागी और योग में लगा रहने वाला पुरुष एक वर्ष अभ्यास करने पर सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या—आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि का अभ्यास कर लेने पर नाद के चिन्तन का अभ्यास करे। आशय यह है कि कानों को दबाने पर ताड़ना के बिना ही जो अनाहत ध्वनि होती प्रतीत होती है, उसका चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार नाद का अनुसन्धान करता हुआ साधक ब्रह्मचर्य से रहे और मिताहार करे। उसे योग में परायण रहकर त्यागशील होना चाहिए। ऐसा करने से एक वर्ष के पश्चात् ही सिद्धि हो जाती है।

नादविन्दृपनिषत् में योगी के लिए यह आवश्यक कर्तव्य बताये गये हैं—

सिद्धासनस्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।

शृण्याद्दक्षिणे कर्णे नादभन्तर्गतं सदा ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।

पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यंपदं वजेत् ॥

अर्थात्—योगी को सिद्धासन से बढ़ना चाहिए, वैष्णवी

मुद्रा धारण करनी चाहिए और दाँये कान में सदा अनाहत ध्वनि को सुनना चाहिए। इस नाद का किया जाने वाला यह अभ्यास बाह्य ध्वनियों को ढक लेता है, जिससे कि साधक तुर्यपद को जीतने में सफल हो जाता है।

इस प्रकार नादानुसन्धान के अभ्यास का अत्यन्त महत्व है। एक वर्ष में ही इसकी पूर्णतया सिद्धि हो जाती है। इस बात में कुछ विचार न करने का आशय यह है कि ऐसा विचार मन में न लावे कि ऐसा होगा अथवा नहीं होगा। क्योंकि जो कार्य निश्चात्मक रूप से होने वाला है उसमें विचार करने का अर्थ उपदेश के प्रति अविश्वास का होना माना जायगा और अविश्वास हो तो कभी किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

सुस्तिनग्धमधुराहारश्चतुर्थां शविर्वर्जितः ।

भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥६०॥

टीका—ठीक प्रकार से चिकना और मधुर आहार चौथाई पेट खाली रखते हुए शिव की प्रीति के लिए करे, यह मिताहार कहलाता है। ६०॥

व्याख्या—‘शिवसंप्रीत्यै कहकर ग्रन्थकार ने शिव अर्थात् आत्मा की प्रीति के लिए भोजन करने का उपदेश किया है इसका अभिप्राय यह है कि साधक जीवन-न्यापन अथवा प्राण-यात्रा चल सके, इसके लिए ही भोजन करे। सुस्वादु या अस्वादु भोजन के प्रिय या अप्रिय होने की ओर ध्यान न दे। तीन चौथाई आहार शरण करे और चौथाई पेट खाली रखे।

कुछ ग्रन्थकारों ने मिताहार का लक्षण यह बताया है कि पेट का आधा भाग अन्न से पूर्ण करे और चौथाई भाग जल

से । इस प्रकार पौन भाग भरना उचित है । चौथाई भाग प्राणवायु के टीक प्रकार संचरार्थ खाली रखे ।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौ-

बीरतैलतिलसर्वपमद्यमत्स्याकू ॥

आजादिमांसदधितक्कुलत्थ कोलपि-

ण्याकर्हिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहु ॥६१॥

टीका:—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, लवण, उष्ण, हरे शाक काँजी, तैल, तिल, सरसों, मदिरा, मत्स्य, बकरी आदि का मांस, दही, मट्ठा, कुलथी, बेर, खल, हींग आदि पदार्थ योगियों के लिए अपथ्य होते हैं ॥६१॥

ठ्याख्या—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, लवण, उष्ण, हरे शाक, सौवीर (काँजी), तैल, तिल आदि मदिरा में मध्य, विजया, अहिफेन आदि मत्स्य और अजा आदि का मांस, दधि चक्र, कुलथी, बेर, पिण्याक अर्थात् खल, हींग लशुन, प्याज आदि यह सभी उत्तोजक द्रव्य माने जाते हैं । इसे लिए इन्हें अपथ्य कहा गया है । योगाभ्यासियों का कर्तव्य कि उक्त द्रव्यों का त्याग कर दें ।

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ।

अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥६२॥

वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥६३॥

टीका—अग्नि पर दुवारा गर्म किया गया अन्न, रूक्ष या अत्यन्त लवण और अम्ल युक्त पदार्थ एवं कुत्सित अन्न आहार का निषेध है । अभ्यास काल में अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन आदि नहीं करना चाहिए ॥६२—६३॥

ठ्याख्या—ठण्डे अन्न दाल, चावल आदि को अग्नि के संयोग से पुनः उष्ण करके खाना ठीक नहीं । रूक्ष भोजन अर्थात् घृतादि से रहित रूक्षा भोजन भी अहित कर है । लवण और अम्ल का अधिक सेवन अनुचित है अर्थात् अधिक नमकीन और अधिक खट्टे द्रव्यों का सेवन भी अलाभकर है । कुछ विद्वानों ने लवण-युक्त आहार का सर्वथा निषेध किया है । परन्तु श्लोक में ‘अतिलवणमम्लयुक्तं’ कहकर यह स्पष्ट किया है कि अधिक लवण या अधिक अम्ल द्रव्यका सेवन न करे इसका अभिप्राय हुआ कि किंचित् लवण या किंचित् अम्ल का प्रयोग किया जा सकता है ।

इसी प्रकार कुत्सित अन्न के त्याग का भी उपदेश है । कुत्सित अन्न का अभिप्राय खराब, सड़े, गले, बासी अन्न से है । योगाभ्यासी को इस प्रकार का अन्न सेवन नहीं करना चाहिए ।

अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन न करने का आशय यह है कि साधक अग्नि के सेवन से तथा स्त्री के संसर्ग से बचे । परन्तु ऐसा आचरण अभ्यास काल में ही करने का उपदेश है, श्लोक से ऐसा ही प्रतीत होता है । इस विषय में गोरक्षनाथ का कहना है—

वर्जयेद् दुर्जनं प्रान्तं वह्निस्त्रीपथि सेवनम् ।

प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधि तथा ॥

अर्थात्—दुर्जन के संग रहना, अग्नि और स्त्री का सेवन, प्रातःकाल में स्नान एवं उवपास आदि तथा जिस विधि से काया को क्लेश हो उसे त्याग दे ।

इस प्रकार योगाभ्यास-काल में वही आचरण रखे जिसे कि शरीर स्वस्थ रहे, मनमें शान्ति और स्वच्छता बनी रहे । यदि ऐसा न होगा तो साधन में चित्त का लगना सम्भव नहीं है ।

योगियों की पथ्याहार

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्न-

क्षीराजयखण्डनवनीतसितामधूनि ।

शु ठीपटोलकफलादिकपञ्चशाक-

मुद्गादि दिव्यमुद्गकंच यमीद्रपथ्यम् ॥६४॥

टीका—गेहूँ, शालि और जौ यह छः दिन में परिपाक प्राप्त होते हैं। शोभन अन्न में दुग्ध, घृत, खाँड़, मक्खन, मिश्री, मधु, सोंठ, परबल फल आदि पाँच प्रकार के शाक, मूँग आदि तथा दिव्य जल, यह पदार्थ योगी-द्वारा के लिए पथ्य है ॥६४॥

छायाख्या—उक्त पदार्थों का सेवन ही योगी के लिए हितकर है। विशेष कर दूध, घो, मक्खन, मिश्री आदि मधुर और स्निग्ध पदार्थ हैं, यह मिताहार के अन्तर्गत भी सेवनीय हैं। दिव्य जल का अभिप्राय शुद्ध जल से है, जो कि मैल-रहित एवं स्वच्छ होना चाहिए।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥६५॥

टीका—पुष्ट, सुमधुर, स्निग्ध, गव्य (दुग्धादि युक्त) धातुओं का पोषण करने वाले और मन को अच्छा लगने वाले और अपने योग्य का आहार ही योगी को करना चाहिए ॥६५॥

छायाख्या—भोजन ऐसा हो जो धातुओं को पुष्ट करे और मन को अच्छा लगे। यदि मन को अच्छा न लगेगा तो उदर पोषण के योग्य आहार करना भी कठिन हो जायगा। गव्य अर्थात् गाय के दूध-घृत आदि से निर्मित पदार्थों का सेवन ही उपयुक्त है।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।

अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥६६॥

टीका—साधक युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध, रोगी या दुर्बल (कैसा भी) हो, योग के सभी अंगों का निरालस्य रूप से अभ्यास करने पर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥६६॥

छायाख्या—योगाध्यास में साधक की आयु का कोई विचार नहीं होता अर्थात् युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध किसी भी अवस्था का हो, रोगी हो या बल-हीन हो, साधन में तत्पर रह सकता है और साधन में तत्पर रहने वाले को सिद्धि प्राप्त होना अनिवार्य है। परन्तु आवश्यक यह है कि साधक आलस्य को छोड़कर अभ्यास में लगा रहे तो उसके रोगादि नष्ट होकर आरोग्य और सिद्धि दोनों का ही लाभ होता है।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।

न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥६७॥

टीका—क्रिया में लगे रहने वाले पुरुष को ही सिद्धि होती है, क्रियाहीन को सिद्धि नहीं हो सकती केवल शास्त्र पढ़ने मात्र से भा योग सिद्धि नहीं हो सकती ॥६७॥

छायाख्या—यदि कोई समझे कि शास्त्रों के अध्ययन मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाय, तो यह कभी नहीं हो सकता। कर्म-वान् पुरुष ही सिद्धि को प्राप्त होता है। ‘क्रिया युक्तस्य सिद्धिः’ कहकर ग्रन्थकार ने कर्मयोग की ओर सकेत किया है। वेदों का भी यही मन्त्रव्य है कि ‘यस्माहते न सिद्धति यज्ञो विपश्चितत्वन् स धीना योगमित्वति’ अर्थात् ‘योग के बिना विद्वान् वा भी कोई यज्ञादि कर्म सिद्ध नहीं होता, वह योग चित्तवृत्तियों का निरोध करना है।’

इस प्रकार चित्त वृत्तियों के निरोध रूपी कर्म से ही योग सिद्धि सम्भव है, केवल शास्त्र-पठनादि से नहीं ।

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।

क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥६८॥

टीका—न किसी प्रकार का वेश धारण करने से ही सिद्धि हो सकती है और न उसकी कथा सुनने से हो । सिद्धि का कारण क्रिया है, यह सत्य है इसमें कोई संशय नहीं ॥६८॥

ब्याख्या—गेरुए वस्त्रों का धारण करने, सिर मुँडा लेने या किसी सम्प्रदाय के चिन्ह धारण करके वैसा वेश बना लेने से अथवा योग विषयक चर्चा या योग-विधि सुन लेने मात्र से ही योग की सिद्धि हो सकती है । उसके लिए ता योग की क्रियाओं का करना ही अपेक्षित है । तभी सिद्धि हो सकती है ।

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।

सर्वाण्पि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥६९॥

टीका—विभिन्न प्रकार के आसन, और दिव्य करण यह सब हठयोग के अभ्यास में राजयोग का फल होने तक करना चाहिए ॥ ६९ ॥

ब्याख्या—जब तक राजयोग की सिद्धि न हो जाय, तब तक आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास करना आवश्यक है । आशय यह है कि राजयोग की सिद्धि होने पर आसनादि के अभ्यास को कम किया जा सकता है ।

॥ हठयोग प्रदीपिका का प्रथम उपदेश समाप्त ॥

—:★: —

द्वितीय उपदेश

प्राणायाम वर्णन

अथासने हृदे योगी वशी हितमिताशनः ।

गरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥१॥

टीका—आसनों की वृद्धता होने पर हितकर मिताहार करता हुआ योगी गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से प्राणायामों का अभ्यास करे ॥१॥

ब्याख्या—श्लोक में अथ शब्द पञ्चात् का वाचक है इससे समझना चाहिए कि आसनों का अभ्यास वृद्ध हो जाय तब प्राणायाम के अभ्यास का प्रारम्भ करे । प्राणायाम के अभ्यास काल में भी पूर्वोक्त विधि से अल्पाहार करता हुआ जीवन-यापन करे । परन्तु इसमें भी गुरु के उपदेश की आवश्यकता रहती है । क्योंकि प्राणायामों के विविध प्रकारों में से उसी का अभ्यास करना चाहिए जो अपनी शारीरिक अवस्था के अनुकूल पड़ता हो, और इसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब गुरु से इस विषय में पूर्ण रूप से जानकारी प्राप्त न करली जाय ।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरोधयेत् ॥२॥

टीका—प्राणवायु के चलायमान होने पर चित्त भी चञ्चल हो जाता है, और प्राणवायु स्थिर हो तो चित्त भी निश्चल होता है । यदि वायु और चित्त दोनों ही निश्चल रहें

तो स्थाणुत्व की प्राप्ति होती है। इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए ॥२॥

ठ्याख्या:—शास्त्रों में मन की चंचलता पर विजय प्राप्त करने का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है, और मन की चंचलता रोकने के लिए आवश्यकता है प्राण को स्थिर करने की अनेक विद्वानों ने प्राण और मन में कोई भेद नहीं माना है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि 'जब हृदयस्थ कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्म मनुष्य ही अमृत हो जाता है और उसे इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।' इस प्रकार कामनाओं के नष्ट करने के लिए मन और प्राण निरोध आवश्यक है।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।

मरणं तस्यनिष्कांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥३॥

टीका—शरीर में जब तक प्राणवायु है तभी तक जीवन कहलाता है और जब शरीर से प्राणवायु निरल जाता है, तब उसे मरण कहते हैं, इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए ॥३॥

ठ्याख्या शरीर में प्राण रहने तक जीवन और प्राण निकंल जाने पर मृत्यु मानी जाती है। इस श्लोक में प्राण-निरोध कहने का अभिप्राय प्राणायाम द्वारा वायु को संयमित करना है। इससे सिद्ध होता है कि प्राणायाम के अभ्यास से आयु-वृद्धि होती है।

मलशोधन की महत्ता कथन

मलाकुलासु नाडीषु मारहतो नैव मध्यगः ।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥४॥

टीका—जब तक नाडियाँ मन से भरी हुई हैं, तब तक प्राणवायु मध्यगामी नहीं होता और वैसा न होने पर उन्मनी भाव नहीं हो सकता तो कार्यसिद्धि ही कैसे हो सकती है ? ॥४॥

ठ्याख्या:—नाडियों की शुद्धि हठयोग में अत्यन्त आवश्यक है। वयोंकि नाडियों के शुद्ध होने पर ही प्राणवायु मध्यगामी हो सकता है और तभी कार्यसिद्धि हो सकती है। योगचूडामण्युपनिषद् के अनुसार—

यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।

नादभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥

अर्थात्—वायु का यथेष्ट धारण करना, जठराग्नि का प्रदीप होना, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य, यह सब नाडी-शोधन से प्राप्त होते हैं।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।

तदैव जायते योगो प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

टीका—जब मल से पूर्ण सम्पूर्ण नाडी चक्र शुद्धि को प्राप्त होता है, तभी योगी प्राण-संग्रहण में सक्षम होता है ॥५॥

ठ्याख्या—सभी नाडियों का मल दूर होकर शोधन हो जाने पर ही प्राणवायु का निरोध हो सकता है। इसलिए योगी को मल-शुद्धि के लिए प्राणायाम का अभ्यास सदा करते रहना चाहिए।

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विक्या धिया ।

यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धि प्रयांति च ॥६॥

टीका—इसलिए सात्त्विक बुद्धि से नित्य प्रति प्राणायाम करे, जिससे कि सुषुम्ना नाडी में स्थित मल की शुद्धि हो सके ॥ ६ ॥

ठ्याख्या—प्राणायाम के साथ सात्त्विक बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि राजसी और तामसी बुद्धि रखने से मन की चंचलता दूर नहीं हो सकती। क्योंकि रजोगुण के धर्म हैं विश्वेष, आलस्य आदि और तमोगुण के धर्म हैं क्रोध, विषाद, ईर्ष्यादि। इसलिए रजोगुण-तमोगुण के बुद्धि में विद्यमान रहते हुए किसी प्रकार की सफलता सम्भव नहीं है।

बद्धपद्मासनो योगो प्राणं चांद्रेण पूरयेत् ।

धारयित्वा यथाशक्तिः भूयः सूर्येणरेचयेत् ॥ ७ ॥

टीका—बद्ध पद्मासन लगाकर बैठा हुआ योगी चन्द्रनाड़ी से प्राणवायु को पूर्ण करे और फिर उसे अपनी शक्ति के अनुसार धारण करता हुआ सूर्यनाड़ी से निकाल दे ॥७॥

ठ्याख्या—चन्द्रनाड़ी का अर्थ डा नाड़ी है, जो वाम नासापुट में होती है और सूर्य नाड़ी पिंगला को कहते हैं, इसका निवास दक्षिण नासापुट में होता है। प्राणायाम की क्रिया में वाम नासापुट के द्वारा प्राणवायु बाहर खींचते हैं, इसे पूरक कहते हैं। उस खींचे हुए वायु को रोकना कुम्भक और दक्षिण नासापुट द्वारा उसे निकाल देना रेचक है। इस प्रकार तीनों प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

इलोक में बद्ध पद्मासन का वर्णन हुआ है, यह आसन पद्मासन होने पर ही सिद्ध होता है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् में इसका लक्षण बताते हुए कहा है—

पद्मासनं सुसंथाप्य तदंगुष्ठद्वयं पुनः ।

व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासन भवेत् ॥

अर्थात्—पद्मासन लगा कर ठीक प्रकार बैठे और दाँये हाथ से बाँये पांव के अँगूठे को तथा बाँये हाथ से दाँये पांव के अँगूठे को पकड़ना बद्ध पद्मासन कहा जाता है।

प्राणं सुर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।

विधिवत्स्तंभकं कृत्वा पुनश्चांद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

टीका—सूर्य नाणी से प्राण को खींचकर धीरे-धीरे उदर को पूरित करे विधिवत् कुम्भक करता हुआ चन्द्रनाड़ी से रेचक करे ॥८॥

ठ्याख्या—यह व्युत्क्रम है। पहले वाम नासापुट से वायु खींचकर दक्षिण से रेचन करना बताया गया और यहाँ दक्षिण नासापुट से वायु खींचकर वाम नासापुट से निकालना कहा गया है। यह क्रम नाड़ी-शोधन में उपयोगी होता है।

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ।

रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वगतः ॥ ९ ॥

टीका—जिस नाड़ी से प्राणवायु को निकाले, उसी से पुनः पान करके धारण करे और फिर दूसरी से निकाल दे। यह कार्य शीघ्रता से न करके धीरे-धीरे करना चाहिए ॥९॥

ठ्याख्या—नियम यह है कि सूर्य नाड़ी से रेचन करे तो उसी से खींच कर चन्द्रनाड़ी से निकाल दे और फिर चन्द्रनाड़ी से खींचकर सूर्य नाड़ी से रेचन करे। इस प्रकार विपरीत क्रम से बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

अभ्यास-काल में वायु-पान रेचन करते समय शीघ्रता से कार्य न ले, वरन् धीरे-धीरे ही करे। वेग से करने में हानि हो सकती है।

प्राणायाम का अवान्तरफल कथन

प्राणं चेदिड्या षिवेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-

त्पीत्वा पिंगलया समोरणमथो बद्धवा त्यजेद्वामया ।

सूर्या चंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां ।

शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयाहूधर्वतः ॥१०

टीका—यदि प्राणवायु का इडा नाड़ी से पान करे तो नियमित हुए उस वायु को पिङ्गला नाड़ी से निकाले । यदि पिंगला से प्राणवायु का पान करे तो कुम्भक के पश्चात् उसे इडा नाड़ी से निकाल दे । इस प्रकार चन्द्रनाड़ी से पूरक करे तो चन्द्रनाड़ी से निकाले । इस भाँति अभ्यास करने से तीन महीने में ही नाड़ी-शोधन हो जाता है ॥१०॥

च्याख्या—नाड़ी शोधन के लिए सीधे और उल्टे क्रम से निरन्तर अभ्यास करना चाहिए । क्योंकि तीन महीने के अभ्यास से नाड़ियों का मल शुद्ध हो जाता है ।

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु ।

सम्पूर्णकुम्भवदेहं कुम्भयेत्मातरिश्वना ॥

पूरणान्नाडयः सर्वा: पूर्यन्ते मातरिश्वना ।

एवं कृते सति ब्रह्मश्चरन्ति दश वायवः ॥

—तिशिख ब्राह्मण ८७-८८

अर्थात्—इस प्रकार वारम्बार क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करता हुआ शरीर के भीतर वायु को भरे और कुम्भ के समान रोके । इससे सब नाड़ियाँ वायु से भर जाती हैं और उनमें दर्शों वायु भले प्रकार चलने लगती हैं ।

प्रातर्मध्यं दिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ।

शनैरशीतिर्यंतं चतुर्वारं समध्यसेतु ॥११॥

टीका—प्रातःकालं, मध्याह्नकाल और सायंकाल और आधी रात के समय अस्सी-अस्सी कुम्भकों को करता हुआ धीरेधीरे अभ्यास करे ॥११॥

च्याख्या—इस श्लोक में प्राणायाम के अभ्यास का निश्चित समय और उसकी अवधि पर प्रकाश डाला गया है । अरुणोदय से तीन घड़ी दिन चढ़ने पर्यन्त प्रातःकाल में मध्याह्न अर्थात् दिन के मध्यकाल में अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक के मध्य समय में और फिर सूर्यास्त के समय से तीन घड़ी पश्चात् तक तथा रात्रि के मध्य में, इस प्रकार चार बार करे । प्रत्येक तीन घड़ी की अवधि में अस्सी बार प्राणायाम की त्रिपुटी (पूरक, कुम्भक, रेचक) करनी चाहिए इस प्रकार चारों बार में तीन सौ बीस प्राणायाम हो जाते हैं ।

कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ।

उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥१२

टीका—कनिष्ठ प्राणायाम में स्वेद, मध्यक में कम्प और उत्तम में उत्तम स्थान की प्राप्ति होती है, इसलिए योगी को वायु का निरोध करना चाहिए ॥ १२ ॥

च्याख्या—कनिष्ठ का आशय निम्न श्रेणी के प्राणायाम से है, उसमें साधक को पसीना आता है । मध्यम श्रेणी के प्राणायाम में योगी काँपने लगता है और उत्तम श्रेणी के प्राणायाम श्रेष्ठ स्थान मिलता है । वह श्रेष्ठ स्थान ब्रह्मरन्ध है, जिसे विद्वानों ने मोक्ष-स्थान कहा है ।

परन्तु ब्रह्मरन्ध में प्राणवायु का पहुँचना कोई साधारण कार्य नहीं है । मेलन के अभ्यास द्वारा जाग्रत् हुई कुण्डलिनी जब पट्टचक्रों का वेधन करती हुई ब्रह्म रन्ध में पहुँचाने का मार्ग खोल देती है तभी प्राणवायु की भी ब्रह्मरन्ध तक पहुँच हो सकती है, और यह कार्य अत्यन्त कठिन और परिश्रम साध्य है । साधारण अभ्यास से इसका सिद्ध होना सम्भव नहीं है ।

किसी-किसी विद्वान् ने 'उत्तम स्थानमाप्नोति' का अर्थ आसन से उठना कहा है, जसका आशय है पृथिवी से उठकर आकाश अर्थात् ऊपर की ओर चढ़ना। इनसे भी टीका के अर्थ में सामंजस्य स्थापित होता है, क्योंकि उत्तम स्थान की प्राप्ति और ऊपर उठने में कोई भेद नहीं है। ऊपर उठने को उन्नति कह सकते हैं और यही पद शेष स्थान के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है।

ब्रह्मरन्ध्रं तुर्यातीत का स्थान माना गया है, इसीलिए उसको उत्तम स्थान है। जैसे—

तुर्यातीतं परंब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्ष्येत् ।

जाग्रद्वृत्ति समारभ्य यावद् ब्रह्मविलान्तरम् ॥

तत्रात्भाऽयं तुरीयः स्यात् तुर्यात्ते विष्णुरुच्यते ।

— त्रिशिखब्राह्मण १५०-१५१

अर्थात्—तुर्यातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म की ओर होता है। जाग्रत् वृत्ति से लगाकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीय के आत्मा का निवास है, उसके पश्चात् वह विष्णु कहलाता है।

इस प्रकार योगी को अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए और निकृष्ट श्रेणी में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। जैसे-जैसे अभ्यास-बढ़ता है, वैसे-वैसे ही उत्तम अवस्था तक पहुँचने में सफल हो जाता है।

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।

दृढ़ता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥१३॥

टीका—प्राणायाम के श्रमसे जो जल जो उत्पन्न हो उसे शरीर पर ही मल ले तो शरीर में दृढ़ता और लघुता उत्पन्न हो जायगी ॥१३॥

ब्रच्याख्या—प्राणायाम के अभ्यास काल में जो परिश्रम होता है, उससे पसीना आने लगता है। वही पसीना साधारण नहीं, वरन् दिव्य होता है, जिससे कि शरीर में पुष्टि और बल की वृद्धि के साथ-साथ दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है तथा लघुता अर्थात् हलकापन अनुभव होने लगता है।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्त्रं क्षीराज्यभोजनम् ।

ततोऽभ्यासे दृढीभूते न ताहडनियमग्रहः ॥ १४ ॥

टीका—अभ्यास काल में प्रथम दूध-घी का भोजन करे, परन्तु अभ्यास दृढ़ हो जाने पर वैसा कोई नियम नहीं है ॥१४॥

ब्रच्याख्या—किसी भी प्रकार का साधन प्रारम्भ करने से पूर्व उसके अनुकूल नियमों का पालन भी आवश्यक होता है। यहाँ दूध घी युक्त भोजन का विद्यान वताकर यह मत व्यक्त किया है कि, दूध-घी जैसा मधुर और पौष्टिक भोजन करना चाहिए। मिताहर में भी दूध-घी के सेवन का उपदेश है, इसलिए साधक को इसी प्रकार का भोजन प्रारम्भ में करना चाहिए। अभ्यास के दृढ़ होने पर उन नियमों में ढील वरत सकते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वृश्यः शनैः शनैः ।

तथैव सेवितो वायुरुन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥

टीका—जैसे सिंह, हाथी, व्याघ्र धीरेधीरे वश में हो जाते हैं, वैसे ही प्राणवायु भी शनैः शनैः वश में होता है, अन्यथा साधक को ही नष्ट कर देता है ॥१५॥

ब्रच्याख्या—प्राणवायु को वश में करने का अभ्यास धीरेधीरे ही करना चाहिए। वैग से करने पर साधक के लिए हानिकारक भी हो सकता है। सिंह, हाथी आदि को भी धीरे-

धीरे वशीभूत किया जाता है और यदि उसमें शीघ्रता की जाती है तो वे वश में करने वाले को ही मार डालते। प्राणवायु के विषय में भी यही समझना चाहिए। क्योंकि कुपित हुआ वायु प्राण का भी हरण कर सकता है।

युक्तायुक्त प्राणायाम फल का वर्णन

प्राणयामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।

आयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥१६॥

टीका—युक्त प्राणायाम से सभी रोग नष्ट होते हैं और अयुक्त प्राणायाय से सभी रोग उत्पन्न हो सकते हैं ॥१६॥

ब्याख्या—विधि के अनुसार किया हुआ कार्य युक्त होता है और युक्त कार्य से ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। वैसे ही युक्त प्राणायाम शरीर में पहले से विद्यमान रोगों का क्षय कर देता है और किर किसी नवीन रोग को उत्पन्न नहीं होने देता। परन्तु विधि-विहीन अर्थात् स्वेच्छाचारिता पूर्वक किया जाने वाला प्राणायाम हानिकारक सिद्ध हो सकता है। उससे अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

इस प्रकार योगाभ्यास में प्राणायाम में ही नहीं, सभी प्रक्रियाओं में योगशास्त्रों में वर्णित विधियों को ठीक प्रकार से पालन करना चाहिए। वह शास्त्र-विधि भी केवल अध्ययन मात्र से नहीं आ सकती, वरन् अनुभवी सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को सद्गुरु की शरण लेनी चाहिए।

हिक्का श्रवासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनः ।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोटतः ॥१७॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायु युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।

युक्तं युक्तं च बधनोयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१८॥

टीका—वायु के प्रकोप से हिक्का, श्वास, कास, शिरो-वेदना एवं अन्यान्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए युक्त युक्त रूप से ही वायु का रेचन और पूरण करे। युक्त-युक्त बन्ध आदि करने से सिद्धि प्राप्त होती है ॥१८—१९॥

ब्याख्या—विधि-विहीन प्राणायाम के कारण यदि कुपित हो जाता है तो उससे श्वास-खांसी, हिचकी, सिर दर्द, कानों का दर्द आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनों को ही विधिपूर्वक करना चाहिए। क्योंकि विधि सहित करने से वायु कुपित नहीं होता, जिससे अभ्यास में सफलता मिलना स्वाभाविक होता है।

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिट्ठनानि वाट्यतः ।

कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥१९॥

यथेष्टधारण वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।

नाहाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥२०॥

टीका—जब नाड़ी-शोधन हो जाता है तब बाहर-भीतर जो चिन्ह दिखाई देते हैं, उनमें शरीर की कृशता और कान्ति अवश्य ही होते हैं। वायु के यथेष्ट धारण से जठराग्नि प्रदीप होती तथा नाद की अभिव्यक्ति होती और नाड़ी-शुद्धि के कारण आरोग्यता उत्पन्न होती है ॥१९—२०॥

ब्याख्या—नाड़ी शुद्ध होने पर उसके चिन्ह शरीर के बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर प्रतीत होने लगते हैं। शरीर की स्थूलता (मोटापन) मिटकर कृशता अर्थात् पतलापन हो

जाता है। मुख पर तेज दिखाई देने लगता है, सौंदर्य निखर आता है और देह में पुष्टि आ जाती है।

वायु का ठीक प्रकार से धारण उदर विकारों को भी नष्ट कर देता है। मन्दाग्नि मिटकर अग्नि का दीपन होता है, जिससे आहार के पाचन की शक्ति बढ़ जाती है। कान में अनाहत नाद स्पष्ट सुनाई देने लगता है और किसी प्रकार का कोई रोग हो तो वह भी मिट जाता है।

इस प्रकार नाड़ी-शोधन के बहुत कुछ लाभ हैं। उसके बिना प्राणवायु की स्थिरता सम्भव नहीं होती तो फिर सिद्धि की प्राप्ति तो हो ही कंसे सकती है?

मेदः इलेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्मणि समाचरेत् ।

अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।

कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥

कर्मषट्कर्मिदं गोप्यं घटशोधनकारम् ।

विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योनिपुंगवैः ॥ २३ ॥

टीका:—जिसके शरीर में मेद और इलेष्मा की अधिकता हो, उसे पहले छः कर्म करने चाहिए। परन्तु यदि भेद और इलेष्म की अधिकता न हो तो उन छः कर्मों को न करे। वे छः कर्म यह कहे हैं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) त्राटक, (५) नौलिक और (६) कपालभाति। यह छओं कर्म गोपनीय तथा शरीर को शुद्ध करने वाले हैं। विचित्र गुणों का सन्धान करने वाले होने से यह योगिपुंगवों द्वारा पूजित है ॥२१—२३॥

ठ्याख्या—स्थूल शरीर वाले पुरुष को उपर्युक्त छः कर्म करने चाहिए। इन कर्मों से शरीर की शुद्ध होती है। यदि

इलेष्मा अर्थात् नाक, मुख से कफ जाना या जुकाम अथवा कफ की अधिकता हो उसके लिए भी यह कर्म लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु जिन्हें स्थूलता या कफ-विकार की अधिकता न हो, उनके लिए यह षट्कर्म अनावश्यक हैं।

इस प्रकार षट्कर्म शरीर के कफ और मेद को दूर करने में सहायक हैं। नीचे इनके विषय में पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे।

धौति कर्म

चतुरंगुल विस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।

गुरुपदिष्टमार्गेण सिवतं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥

पुनः प्रत्याहरेच्छैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥ २४ ॥

टोक्का—चार अंगुल विस्तृत और पन्द्रह हाथ आयात के वस्त्र को जल से सींचकर गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से धीरे-धीरे ग्रसे और फिर उसका धीरे-धीरे ही प्रत्याहरण करे, यह धौति कर्म होता है ॥२४॥

ठ्याख्या—धौति कर्म षट्कर्मों में प्रथम कर्म है। इसके लिए चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा महीन वस्त्र लेकर गर्भ जल में भिगोवे और फिर गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से उस वस्त्र को धीरे-धीरे निगले। उसके एक छोर को अपनी दाढ़ों में ठीक प्रकार से ढान ले। वह वस्त्र उदर में जाकर टिक जाय तब वहाँ ठीक प्रकार से चलाकर बाहर निकाल दे। यह धौति कर्म है।

कासश्वासप्तीहृकुष्ठं कफरोगाश्च विशतिः ।

धौतिकर्मप्रभावेन प्रत्यांत्येव न संशयः ॥ २५ ॥

टीका—इस धौति कर्म के प्रभाव से खाँसी, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ औप बीस प्रकार के कफ रोग अवश्य दूर हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥२५॥

च्याख्या—यह कर्म कफ के विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी है। खाँसी, जुकाम, श्वास आदि रोगों में हितकर तथा प्लीहा अर्थात् तिली और कुष्ठ रोग एवं अन्यान्य चर्म-विकार भी दूर हो जाते हैं।

वस्ति कर्म

नाभिदृणजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।

आधाराकुञ्चन कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥२६॥

टीका—नदी आदि के नाभि प्रमाण जल में स्थित होकर गुह्य प्रदेश में कनिछिका अगुली के प्रवेश योग्य छिद्र वाली बाँस की नली को प्रविष्ट करे और उत्कटासन लगाकर बैठे। इस प्रकार बैठे हुए साधक को आधार का आकुञ्चन करना चाहिए। यह वस्ति कर्म है ॥२६॥

च्याख्या—वस्ति कर्म षट् कर्मों में दूसरा है। बाँस की छः अंगुल लम्बी वह बाँस की नली गुदमांग में चार अंगुल भीतर प्रविष्ट करे और दो अंगुल बाहर रहने दे। उत्कटासन लगाकर बैठे। इस आसन का वर्णन आसनों वाले प्रकरण में लिख चुके हैं। इस प्रकार बैठा हुआ साधक, वंशनाल में जैसे ही जल प्रविष्ट हो, वैसे ही आकुञ्चन करे अर्थात् खीचे और नौली कर्म द्वारा उदर में चलाकर निकाले। इस प्रकार उदर का क्षालन करना अर्थात् होना ही वस्ति कर्म हैं।

धौति और वास्ति दोनों ही कर्म भोजन से पहले ही करने चाहिए तथा इन कर्मों को करने के तुरन्त बाद भोजन कर-

लेना चाहिए। इससे काया रोग-रहित रहती है, परन्तु इस कर्म को ठीक प्रकार से करना चाहिए। जो लोग गुदा में नाल प्रविष्ट किये बिना ही वास्ति कर्म कर लेते हैं, उनके बैसा करने से उदर प्रक्षालन का पूरा जल बाहर नहीं निकल पाता, जिससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

गुलमप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोदभवाः ।

बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयते सकलामयाः ॥२७॥

धात्तिवद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च काँति वहनप्रदीप्तिम् ।

अशेषदोषोपचयं निहन्यादश्यस्यमानं जलवस्तिनर्म ॥२८॥

टीका—वस्ति कर्म के प्रभाव से गुलम, प्लीहोदर एवं वात, पित्त, कफ से उत्पन्न सभी रोग क्षीण हो जाते हैं। यह वस्ति कर्म करने से धातु, इन्द्रिय, करण को हर्ष की प्राप्ति होती है तथा शरीर में कान्ति और उदर में अग्नि प्रदीप्ति है। अशेष दोषों का अपचय भी इसके द्वारा नष्ट हो जाता है। यह जल-वस्ति कर्म है ॥२७—२८॥

च्याख्या—वस्ति कर्म के द्वारा उदर के सम्पूर्ण रोग दूर किये जा सकते हैं। वात, पित्त, कफ के रोग भी इससे नष्ट हो जाते हैं, चाहे वे एक दोष के कुपित होने से हुए हों, चाहे दो दोषों के कोप से या त्रिदोषज ही क्यों न हों।

धातु हर्ष का अथ है धातुओं का पुष्ट अथवा परिपक्व होना। धातु में रस, रक्त, मांस, मेद शुक्र यह पाँच आते हैं। इन्द्रियाँ देश हैं, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, इनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रिय कहलाती है तथा श्रोत, त्वर्क, जिट्वा, घ्राण और चक्षु यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। ‘करण’ कहने से अभिप्राय मत बुद्धि, रूप अहङ्कार रूप

अन्तःकरण का है। इनको प्रसन्न करना अर्थात् सुपुष्ट करना ही कान्ति वर्द्धक तथा जठराग्नि प्रदीपक है, यही जलवास्ति कर्म होता है।

नेति कर्म

सूत्रं वितस्तिसुस्तिनग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैनिगद्यते ॥ २६ ॥
कपालशोधिनो चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जग्रूर्धर्वजातरोगौघं नेतिराशु लिहंति च ॥ ३० ॥

टीका—एक विलाँद (बालिशत) परिमाण का सूत्र लेकर उसे भली प्रकार स्तिग्ध अर्थात् चकना करले और उसे नासिका की नली में प्रविष्ट करके मुख के द्वारा निकाल दे। इसे सिद्ध पुरुष नेति कहते हैं। यह क्रिया कपाल का शोधन करने वाली, दिव्य दृष्टि देने वाली तथा स्कन्ध-सन्धि के ऊपर के भाग के सब रोगों को शीघ्र दूर करने वाली है ॥२६॥ ३०॥

व्याख्या—सूत्र का एक विलाँद का टुकड़ा लेकर उसे चिकना करले और नाक द्वारा घुसा कर मुख द्वारा निकाल दे। कुछ लोगों के विचार में सूत्र का एक विलाँद भर होना कोई आवश्यक नहीं है, जितना सूत्र इस कर्म के लिए अपेक्षित हो, उतना ही लेना चाहिए। इस क्रिया से कन्धे की सन्धि के ऊपरी भागों के सब रोग मिट जाते हैं। इससे कपाल का शोधन भी होता है।

त्राटक कर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्य समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यस्त्राटकं स्फृतम् ॥ ३१ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाकटपेटम् ॥ ३२ ॥

टीका—समाहित चित्त वाला पुरुष निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ को अश्रुपात होने तक देखता रहे। इसे योगाचार्यों ने त्राटक कर्म माना है। यह नेत्र के रोगों का शमन करने वाला और तन्द्रा आदि के लिए कपाट रूप है। यह स्वर्ण की पेटी को गुप्त रखने के समान ही यत्नपूर्वक गोपनीय है ॥३१—३२॥

व्याख्या—‘समाहित’ का अर्थ है समान रूप होना और यहाँ इसका अभिप्राय है चित्त की एकाग्रता रहना, श्लोक में एकाग्र चित्त रखता हुआ साधक किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ को अथवा शून्य को लक्ष्य बनाकर उस पर दृढ़ता से दृष्टि जमा कर तब तक देखता रहे जब तक कि नेत्रों से आँसू न निकलने लगें। इस प्रकार का अभ्यास करने वाले साधक के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और तन्द्रा आदि तो इस प्रकार दूर हो जाती है जैसे कि कपाट खुलने पर अन्धकार दूर हो जाता है।

यह क्रिया तभी अमूल्य है कि इसे स्वर्ण की पेटी के समान गोपनीय रखना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार इससे साधक को सम्मोहन-शक्ति भी प्राप्ति होती है।

नौलि कर्म

अमंदावर्तवेगेन तु दं सव्याप्तसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते ॥ ३३ ॥
मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ।
अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रिया मौलिरियंच नौलिः ॥ ३४ ॥

टीका—अमन्द आवर्त के वेग से अपने उदार को दाँपे-बाँये भागों में भ्रमावे, इसे विज्जन नौलिकर्म कहते हैं। यह

मन्दाश्विन का दीपन, पाचनादि करने वाला आनन्दकारी कर्म है। इससे अशेष वातादि दोषों और रोगों का नाश होता है। यह हठयोग की श्रेष्ठ नौलि क्रिया है ॥३३—३४॥

ब्याख्या—कन्धे नवाये हुए साधक अत्यन्त उदार वेग वाला होकर आवर्त अर्थात् जल की भ्रान्ति के समान वेग से अपने उदर को दाँयी-वाँयी ओर घुमावे तो नौलि कर्म होता है। इसे सतत अध्यास द्वारा सिद्ध करना चाहिए। इस कर्म से मन्दाश्विन दूर होकर अन्न आदि का ठीक प्रकार पाचन होता है। बात के प्रकोप से होने वाले रोग और दोष इसके द्वारा समूल रूप शोषण को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि इससे सभी वातादि विकारों का समूल नाश होता है।

कपालभाति कर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ सस्भ्रमो ।
कपालभातिविख्याता कफदोषविशोषणो ॥३५॥

टीका—लोहकार की भस्त्रा के सम्भ्रम से रेचकपूरक प्राणायाम करना कफदोष का शोषण करने वाला कपाल भाति कर्म प्रसिद्ध है ॥३५॥

ब्याख्या—यह कपालभाति कर्म षट्कर्मों में छाटा है। जैसे लोहार को धोंकनी चलती है, वैसे ही एक बार में अत्यन्त शोषणात्पूर्वक प्राणायाम करे। इससे कफ दोष का नाश होता है।

षट्कर्मत्रिगतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।

प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्धुचति ॥३६॥

टीका—धौति आदि षट्कर्मों से स्थूलता एवं बीस

प्रकार के कफ दोषों से मुक्त हुआ पुरुष षट्कर्मों को करने के पश्चात् प्राणायाम करे तो अनायास ही सिद्ध हो जाती है ॥३६॥

ब्याख्या—षट्कर्मों के करते रहने से स्थूलता और कफ के कोप से उत्पन्न सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और जब इस प्रकार आरोग्य की प्राप्ति हो जाय तब षट्कर्म करके प्राणायाम करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि षट्कर्म करने पर प्राणायाम करे तो बिना परिश्रम ही प्राणायाम की सिद्धि हो जाती है और षट्कर्म किये बिना ही प्राणायाम किया जाय तो उसकी सिद्धि में अधिक परिश्रम करना होता है। इसलिए षट्कर्म करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना ठीक है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुद्ध्यंति मला इति ।

आचार्याणां तु केषांच्चिद्दन्यत्कर्म न संमतम् ॥३७॥

टीका—प्राणायाम के द्वारा ही सब मल शुष्क हो जाते हैं ऐसा मत कुछ आचार्यों का है ॥३७॥

ब्याख्या—कुछ आचार्यों के मध्य में उक्त छः कर्म आवश्यक नहीं हैं। उनके अनुसार केवल प्राणायाम करने से ही सम्पूर्ण मलों की निवृत्ति हो सकती है। इस मत के अनुसार षट्कर्मों का अनुपयोग सिद्ध होता है।

गजकरणी कथन

उदरगतपदार्थमुद्वर्मन्ति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ।
क्रमपरिचयवश्यनाडिवक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञै ॥३८॥

टीका—अपान वायु को ऊपर कण्ठनाल में पहुँचा कर उदर में गये हुए पदार्थ का उद्वर्मन करते हैं, उसके क्रमपूर्वक अध्यास से नाड़ी-समूह का वशीभूत होना, हठयोग के विज्ञ आचार्यों के मत में गजकरणी कहलाता है ॥३८॥

ठ्याख्या—शंखिनी नाड़ी का मार्ग कण्ठ पर्यन्त है, उसी से अपान वायु ऊपर उठकर कण्ठ नाल से पहुँचता है और यह क्रिया 'उदरस्थ पदार्थ का उद्धमन करने में सहायक होती है। इसके क्रम से अभ्यास करने से शरीर का नाड़ीजाल वशीभूत हो जाता है।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।

अभूवन्नन्तकभयात्तस्यात्पवनमध्यसेत् ॥ ३६ ॥

यावद्वद्वो मरुददेहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।

यावद्विष्टभ्रुं वोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

टीका—ब्रह्मा आदि देवगण भी मरण-भय से वायु के अभ्यास में लगे रहते हैं, इसलिए प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि जब तक शरीर में प्राणवायु रुका हुआ है और विक्षेप रहित है और जब तक अन्तःकरण की वृत्ति भौंहों के मध्य में है, तब तक काल का भय कहाँ? ॥३६—४०॥

ठ्याख्या—मृत्यु का होना इतना अवश्यंभावी है कि उसके भय से बचने के लिए ब्रह्मादि विदेव या अन्यान्य देवता भी प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहे आते हैं। इस प्रकार का कथन इसका संकेत करता है कि मृत्यु से बचने के लिए प्राणायाम अभ्यास का आवश्यक है, क्योंकि प्राणाभ्यासी मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है।

शरीर में जब तक प्राण है तब तक मृत्यु कौसी? उसका भय भी कैसा? और प्राणायाम के अभ्यास की सिद्धि होने पर शरीर से प्राण के पृथक् होने का भी भय नहीं रह सकता। अभिप्राय यह है कि दीर्घजीवी होने के लिए प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है।

सुषुम्ना में सुख पूर्वक वायु प्रवेश कथन

विधिवत्प्राणसंयमैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।

सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥४१॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।

यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥४२॥

टीका—विधिपूर्वक प्राणायाम के संयम से नाड़ी चक्र का शोधन होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख को भेद कर उसमें सुखपूर्वक प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना के मध्य चलता है तब मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है और मन सुस्थिर होना ही मन की उन्मनी अवस्था होती है ॥४१—४२॥

ठ्याख्या—विधिपूर्वक प्राणायाम करने पर ही नाड़ियों का शोधन हो सकता है और नाड़ी-शोधन हो जाने पर ही वायु का सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करना सम्भव है। इसलिए साधक को विधिवत् प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-शोधन का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि सुषुम्ना में वायु के चलने पर मन की चंचलता नष्ट हो जाती है।

मन के हड़ एवं स्थिर हो जाने पर ही उन्मनी अवस्था होती है। क्योंकि मन के स्थैर्य से खेचरी मुद्रा सिद्ध हो सकती है और खेचरी से उन्मनी अवस्था। शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है—

तारं ज्योतिषि संयोजय किञ्चिदुन्नमय भ्रुवौ ।

पूर्वभ्यासस्य मार्गोऽयमुम्ननीकारकः क्षणात् ॥

तस्मात् खेचरीमुद्रामध्यसेत् । ततोन्मनी भवति ॥

अर्थात्—नेत्र की पुतली को ज्योति से संयुक्त करके जो साधक दोनों भौंहों को किञ्चित् ऊँचा रखता है, यह पूर्वभ्यास

का मार्ग है, इससे क्षण भर में ही उन्मनी दशा हो जाती है। इसलिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास करे, उससे उन्मनी अवस्था होती है।

**तत्सद्धये विधानज्ञाश्चत्रात्कुर्वन्ति कुंभकान् ।
विचित्रं कुंभकाभ्यासाद्विचित्रं सिद्धिमाप्नुयात् ॥४३॥**

टीका—कुम्भक की विधि के जानने वाले विद्वान् उस (उन्मनी अवस्था) की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के प्राणायामों को किया करते हैं। क्योंकि उन्हीं से अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है ॥४३॥

ठ्याख्या—योग विद्या के विद्वान् उन्मनी दशा की उपलब्धि के उद्देश्य से अनेक प्रकार के प्राणायामों को करते रहते हैं, क्योंकि प्राणायामों के द्वारा ही सब प्रकार की सिद्धि सम्भव है। योगशास्त्रों में प्राणायाम के माहात्म्य की बहुत प्रशंसा की है। विशिख ब्राह्मणोपनिषत् के अनुसार—

योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिग्नितेन्द्रियः ।
अल्पाशी स्वतप्निद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत् ॥
अपमृत्युमपक्रम्यं दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।

अर्थात्—वायु को जीतने वाला योगी जितेन्द्रिय, मिताहारी, अल्प निद्रा, तेजस्वी, बलवान् और योग विद्या में सिद्ध हो जाता है। उसे अकाल मृत्यु का भय मिटकर दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार और भी अनेक सिद्धियों का वर्णन हुआ है, जो प्राणायाम के अभ्यास से ही प्राप्त हो सकती हैं।

कुंभक के भेद

सूर्यभेदनमुज्जायीं सीत्कारीं शीतलीं तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरीं मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः ॥४४॥

टीका—कुम्भक आठ प्रकार के होते हैं—(१) सूर्यभेदन, (२) उज्जायी, (३) सीत्कारी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा, और (८) प्लाविनी ॥४४॥

ठ्याख्या—ग्रन्थकार ने कुम्भक के उक्त आठ भेद बताये हैं। परन्तु कुछ शास्त्रों में चार भेद ही माने हैं। उन्होंने आठ भेदों का चार भेदों में अन्तर्भाव कर दिया प्रतीत होता है। और किन्हों विद्वानों ने सहित और केवल के भेद से दो प्रकार का कुम्भक बताकर सहित कुम्भक के चार भेद कहे हैं योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

सूर्योज्जायी शीतलीं च भस्त्रीं चैव चतुर्थिका ।

भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहित कुम्भकः ॥

अर्थात्—सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका इन चार प्रकार के प्राणायामों के साथ सहित कुम्भक किया जाता है।

पूरकांते तु कर्तव्यो वंधो जालंधरामिधः ।

कुंभकांते रेचकादो कर्तव्यस्तूडिड्यानकः ॥४५॥

टीका—पूरक प्राणायाम के अन्त में जलन्धर नामक बन्ध किया जाता है तथा कुम्भक के अन्त होने पर और रेचक के पहिले उड़ियान बन्ध करना चाहिए ॥४५॥

ठ्याख्या—हठयोग की सिद्धि में तीन बन्ध भी प्रमुख हैं—जलन्धर बन्ध, मूलबन्ध और उड़ियान बन्ध। इस श्लोक में दो बन्धों का संकेत है जलन्धर बन्ध और उड़ियान बन्ध का। जलन्धर बन्ध कण्ठ का आकुंचन करके ठोड़ी को हृदय में लगाकर प्राणवायु का बन्धन करने से होता है और उड़ियान की सिद्धि प्रयत्नपूर्वक नाभि का पीठ से आकर्षण करने से होती है।

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥४६॥

टीका—कण्ठ का संकोच करने तथा नीचे के प्रदेश से आकुंचन होने पर मध्य में पश्चिम तान से प्राणवायु ब्रह्म नाड़ी में पहुँच जाता है ॥४६॥

च्याख्या—कण्ठ के संकोचादि के द्वारा जालन्धर बन्ध करके और नीचे के प्रवेश के आकुंचन से मूलबन्ध होने पर पीठ से नाभिदेश में प्राण के आकर्षण रूप उड्डियान बन्ध होता है, जिससे प्राण ब्रह्म नाड़ी में जा पहुँचता है । इससे यह जानने योग्य तथ्य है कि जिह्वा बन्ध के भले प्रकार जानकर करने के पश्चात् ही जालन्धर बन्ध के द्वारा प्राणायाम की सिद्धि होती है । आशय यह है कि वायु के उत्तेजन से ही धातुओं का हर्ष, कृशता और मुख पर प्रसन्नता आदि सभी लक्षण होते हैं, जिससे कि मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध निरर्थक होता है । परन्तु यदि जिह्वाबन्ध का ज्ञान न हुआ हो तो उक्त प्रकार से प्राणायाम का किया जाना और तीनों बन्धों की विधि का ज्ञान गुरु से लेना चाहिए ।

यह भी ज्ञातव्य है कि ठीक प्रकार से ज्ञात न किया हुआ मूलबन्ध अनेक रोगों को उत्पन्न कर सकता है । मूलबन्ध के ठीक प्रकार न होने के लक्षण यह हैं कि मलावरोध, मन्दारिन, धातुओं का क्षय, नाद की मन्दता और मल का बकरी के मल के समान होना आदि से समझना चाहिए कि यह विकार मूलबन्ध ठीक हो जाय तो इससे विपरीत लक्षण होते हैं अर्थात् धातुओं का ठीक प्रकार से पोषण, नाद का ठीक प्रकार उदय और अग्नि का दीपनादि होते हैं ।

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत ।

योगी जराविमुक्तः सन्धोडशाब्दवयो भवेत् ॥४७

टीका—अपान वायु को ऊपर को उठाकर प्राणवायु को कण्ठ से नीचे ले जाय । इससे योगी वृद्धावस्था से विमुक्त और सोलह वर्ष की अवस्था वाला हो जाता है ॥४७॥

च्याख्या—अपान को ऊर्ध्व और प्राण को अधः करने से प्राणायाम का मेलन होता है, जो कि कुण्डलिनी जागरण में बहुत उपयोगी है । साधक के लिए यह ज्ञातव्य है कि जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध के सिद्ध होने पर नाभि देश में जो उड्डियान बन्ध होता है उसकी सिद्धि स्वतः ही जाती है । इस उड्डियान बन्ध को आकर्षण बन्ध भी कहते हैं ।

सूर्यभेदन कुम्भक

आसने सुखदे योगी बद्धवा चैवालनं ततः ।

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पद्मनं शनैः ॥४८॥

टीका—सुखद आसन पर बैठ कर योगी आसन को बाँधे और दाँयी नाड़ी (पिगला) से शरीर के बाहर विद्यमान वायु को धीरे-धीरे खींचता हुआ प्राणायाम को करे ॥४८॥

च्याख्या—यहाँ सूर्य भेदन प्राणायाम के विषय में कहा है । इसकी क्रिया इस प्रकार है कि प्रातःकाल उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर तथा गुरुदेव और इष्टदेव को प्रणाम पूर्वक दन्त धावन और भस्म धारण करके श्रेष्ठ कुटी मृदु आसन बिछाकर बैठे आसनों का अध्यास करे तथा कुम्भक से पहले विपरीत करणी मुद्रा को करे । फिर जालन्धर बन्ध की सिद्धि के लिए कुम्भक से पहिले आक्षमन करके प्राणायाम का अध्यास

करना चाहिए। इस प्रकार पहले दिन दश प्राणयाम, दूसरे दिन पन्द्रह और तीसरे दिन बीस, इस प्रकार अस्सी प्राणयाम पर पहुँच जाय।

पहले चन्द्रसूर्य का क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करे। फिर चित्त को स्थिर रखकर बन्ध करता हुआ सूर्य भेदन का अभ्यास करे। तत्पश्चात् उज्जायी, सीत्कारी, शीतली और भस्त्र का क्रमशः अभ्यास करना चाहिए। इसके अनन्तर अन्य प्राणयाम करे, चाहे न करे।

मुद्राओं का अभ्यास और पद्मासन लगाकर नाद का अनुसन्धान करे और अभ्यास से उठने पर गर्म जल से स्नान करना चाहिए। मध्याह्न में भी अभ्यास करने के पश्चात् कुछ समय विश्राम और फिर भोजन करे। अन्य योगिकों को भी पथ्याहार के अपथ्य रूप आहार कभी न दे।

भोजन के अन्त में लौंग, इलायची या कर्पूर का सेवन करे। परन्तु बिना चूने का पान हो योगियों के लिए हितकर होता है। कुछ विद्वान् इन द्रव्यों का निषेध करते हुए कहते हैं कि भोजन के पश्चात् तो मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन करना ही उचित मानते हैं।

दिन की तीन घड़ी शेष रहने पर इसी प्रकार पुनः अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर सायंकालीन संध्या करे और आधी रात के समय पहले के अनुसार अभ्यास करे। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि सायंकाल और अर्द्धरात्रि के समय विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास करना वर्जित है। क्योंकि भोजन के पश्चात् विपरीत करणी श्रेष्ठ नहीं मानी गई है।

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पद्मं शनैः ॥४६॥

टीका—नरवाग्र से केश पर्यन्त जब तक निरोध हो तब तक कुम्भक करे और फिर वाम नाड़ी (इडा) से धीरे-धीरे वायु का रेचन करे ॥ ४६ ॥

च्याख्या—इसमें आशय यह है कि जितनी देर प्राण-वायु को रोका जा सके, उतनी देर रोककर कुम्भक करे और वाम नाटा पुट से उसे निकाल दे। परन्तु निकालने की क्रिया शनैः शनैः करनी चाहिए क्योंकि वेग से प्राणवायु के निकालने से शक्ति का क्षय होता है।

परन्तु पूरक करना अथवा वायु का बाहर से खींचना वेग से किया जाय तो उनमें कोई हानि नहीं होती। कुम्भक में यथा शक्ति वायु का धारण करना चाहिए। जब वायु को रोकने में असमर्थ हो जाय तब उसका रेचन करे। क्योंकि शक्ति से बाहर किया जाने वाला वायु-निरोध शरीर के लिए हानि में पहुँचा सकता है।

कपालशोधनं वातदोषं कृमिदोषहृत् ।

पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥५०॥

टीका—यह उत्तम सूर्य भेदन कपाल का शोधन, वात दोष का नाश और कृमि दोष का हरण करने वाला है, इसलिए इसे बार-बार करना चाहिए ॥५०॥

च्याख्या—सूर्यभेदन कुम्भक से मस्तक का शोधन होता है, जो कि योग की सिद्धि में अत्यावश्यक कर्म है। योग-कुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

कपालशोधने वाडिप रेचयेत्पद्मं शनैः ।

चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्य भेद मुदाहृतम् ।

अर्थात्—कपालशोधन की क्रिया में वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले, इससे चारों प्रकार के बात दोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं। इस सूर्यभेद कही जाने वाली क्रिया को बार-बार करे।

उज्जायी कुम्भक

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्ण पवनं शनैः ।
यथा लगति कंठात् हृदयावधि सस्वनम् ॥५१॥
पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥५२॥
नाडोजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाययाख्यं तु कुंभकम् ॥५३॥

टीका—मुख को बन्द करके दोनों नासापुटों से वायु को धीरे-धीरे खींचे, जिससे कि वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय पर्यन्त परिपूर्ण हो जाय फिर पूर्ववत् कुम्भक करके वाम नासिक से रेचन करे। इससे कण्ठ में होने वाले कफ के दोष नष्ट होते और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। नाड़ी-सम्बन्धी जलोदर और धातु सम्बन्धी रोग भी नष्ट हो जाते हैं इस उज्जायी कुम्भक को चलते, फिरते, स्थिर रहते सदा करना चाहिए ॥५१—५२।

ठ्याख्या—उज्जायी कुम्भक से अनेक रोग नष्ट होते हैं। कफज विकारों के शमन करने अथवा उत्पन्न न होने देने में यह अत्यन्त प्रभावशाली है। घेरण संहिता में भी कहा है—

नासाभ्यां वायुमाकृष्ण वायुं वक्त्रेण धारयेत् ।
हृदगलाभ्यां समाकृष्ण मुखमष्टये च धारयेत् ॥

मुखं प्रक्षाल्य सम्बन्धं कुर्याज्जातन्धरं ततः ।
अशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेद् विरोधतः ॥
उज्जायी कुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत् कफ रोगं च कूरवायुरजीर्णकम् ॥
आमवातं क्षयं कासं ज्वर प्लीहा न विद्यते ।
जरामृत्यु विनाशाय चोज्जायीसाधयेन्नरः ॥

अर्थात्—दोनों नासापुटों से बाह्य वायु को खींचे और भीतर के वायु को हृदय, कण्ठ से खींचकर कुम्भक द्वारा धारण करे। मुख का प्रक्षालन कर जालन्धर बन्ध करके निर्विघ्न रूप से यथा शक्ति वायुधारण करे। यह उज्जायी कुम्भक करने से सभी कार्यों का साधन हो जाता है और कफ के रोग, दुष्ट वायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कास, ज्वर प्लीहा उत्पन्न नहीं होते (अथवा उत्पन्न हों तो नष्ट हो जाते हैं)। इसलिए इस जरा-मरण नाशक उज्जायी का सदा साधन करना चाहिए।

सीत्कारी कुम्भक

सीत्कां कृर्यात्तथा वक्त्रे ग्राणेनैव विजूंभिकाम् ।
एवमध्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥५४॥
योगिनी चक्रसामान्यं सृष्टिसंहारकारकः ।
न क्षुधा न तृष्णा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥५५॥
भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमण्डले ॥५६॥

टीका—सीत्का अर्थात् सीत्कारी भी उसी प्रकार किया जाता है कि ग्राण से ही वायु का रेचन करे। इसके अभ्यास से दूसरा कामदेव ही हो जाता है। योगिनियों से सेवन

करने योग्य और सृष्टि-संहार करने वाला होता हुआ साधक क्षुधा, तृष्णा, निद्रा और आलस्य से अभिभूत नहीं होता। इससे शरीर का बल बढ़कर सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार करने वाला साधक भूमण्डल में योगियों का इन्द्र हो जाता है। ४४-४६॥

व्याख्या—इस क्रिया में वायु का रेचन नासिक पुटों द्वारा ही करना चाहिए, मुख से न करे। अध्यास सिद्ध होने पर भी वायु का मुख के द्वारा निकालना बल को क्षीण करने वाला होता है। प्राणेनैव विजृम्भिका' का अर्थ यही है कि प्राण अर्थात् नासिक से, विजृम्भण अर्थात् रेचन करे।

शीतली कुम्भक

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ।

शनकैग्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पचनं सुधीः ॥५७॥

गुमप्लीहादिकानृगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधा तृष्णाम् ।

विषाणि शीतलो नाम कुंभकेयं निहंति हि ॥५८॥

टीका—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर विद्वान् साधक पूर्वोक्त प्रकार से कुम्भक का साधन करे और नासिका रन्धों से धीरे-धीरे वायु को निकाल दे। इस शीतली कुम्भक से गुलम, प्लीहा आदि रोग, ज्वर, पित्त, क्षुधा, तृष्णा और विष नष्ट हो जाते हैं। ५७-५८॥

व्याख्या—काकी मुद्रा के समान मुख के होठों को करके उनके द्वारा वायु का आकर्षण करता हुआ नाक से रेचन करने की विधि कही। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

जिह्वयावयुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छन्तः ।

क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्या रेचयेत् पुनः ॥

द्वितीय उपदेश]

सर्वदा साधयेदयोगी शीतली कुम्भकं शुभम् ।

अजीर्णं कफपित्तं च नैव देहे प्रजायते ॥

अर्थात्—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर उदर भरे और कुछ देर कुम्भक करके दोनों नासापुटों द्वारा निकाल दे। इस शुभ शीतली कुम्भक को सदा करने से शरीर में अजीर्ण और कफ पित्त के विकार उत्पन्न नहीं होते।

भस्त्रिका कुम्भक

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।

पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥५९॥

सम्यकपद्मासनं बद्धवा समग्रीबोदरं सुधीः ।

मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं प्राणेन रेचयेत् ॥६०॥

यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ।

वेगेन पूरयेच्चापिहृत्पद्मावधि मारुतम् ॥६१॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वृत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥

यथैव लोकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥६२॥

टीका—दोनों पावों के तलुओं को दोनों जंघाओंके ऊपर स्थापित करके बैठे तो यह सभी पापों का नाश करने वाला पद्मासन होता है। भले प्रकार पद्मासन बाँधकर ग्रीवा और उदर को समान रखे तथा मुख का संयम करके नासिका के एक रन्ध से प्राण का रेचन करे। जैसे शब्द करता हुआ प्राण हृदय, कण्ठ और कपाल पर्यन्त लगे और फिर वेग पूर्वक हृदय कमल तक वायु को पूरित करे। तत्पश्चात् वायु का रेचक बार-बार वैसे ही करे, जैसे लोहार धौंकनी को चलाता है ॥५९—६२॥

ठ्याख्या—पदमासन लगाकर बैठने के पश्चात् भस्त्रिका कुम्भक होता है। क्योंकि पदमासन सभी पापों को नष्ट करने वाला है। इसीलिए ग्रन्थकार ने ‘सम्यक् पदमासनं बद्धवा’ कहकर पदमासन को ठीक प्रकार से लगाने का उपदेश किया।

तथैव स्वशरीरस्थां चालयेत्पवनं धिया ।

यदा श्रमो भवेद्ददेहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥६३॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।

धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीध्यां विना दृढ़म् ॥६४॥
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिड्यानिलम् ।

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निवर्धनम् ॥६५॥
कुँडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।

ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥६६॥
सम्यग्गात्समुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदम् ।

विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥६७॥

टीका—वैसे ही बुद्धिमान साधक अपने शरीर में विद्यमान वायु का चालन करे और जब श्रम जान पड़े तब सूर्यनाड़ी (पिंगला) से पूरक करे। मध्यमा और तर्जनी के अतिरिक्त अन्य तीनों अंगुलियों से नासिका को मध्य से हड्डा पूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे और बाँयी नासिका से रेचक करे। यह प्रयोग वात, पित्त, कफ का नाशक और जठराग्नि का वर्धन करने तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखदायक और हितकारक तथा ब्रह्मनाड़ी के मुख पर विद्यमान कफादि को नष्ट करता है। जो गात्र नाड़ी के मध्य में समुद्भूत तीन ग्रन्थियों का भेदन

करने वाला होने से भस्त्रा संज्ञक यह कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए ॥६३—६७॥

ठ्याख्या—जिस प्रकार वायु से उदर पूर्ण हो सके, उसी प्रकार अर्थात् यथाशक्ति सूर्यनाड़ी द्वारा पूर्ण करना चाहिए। पूरक के प्रश्नात् अंगूठा, अनामिका और कनिष्ठिका तीनों के द्वारा नासा पुट को हड्डा पूर्वक रोकता हुआ कुम्भक करे उसमें मध्यमा और तर्जनी को न लगावे। फिर इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए।

वाम नासापुट को दाँये हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका से रोककर दाँये नासापुट से धींकनी के समान वेग पूर्वक रेचक, पूरक करे और जब श्रम का अनुभव हो तब उसी नासापुट से पूरक करके अँगूठे के द्वारा दाँये नासापुट का अवरोध कर यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर बाँये नासापुट से रेचन करे। तदन्तर दाँये नासापुट को अगुण से रोके और वामपुट से धींकनी के समान जल्दी-जल्दी रेचक-पूरक करे। जब उससे श्रम हो तब नासापुट से पूरक करके अनामिका और कनिष्ठिका से वामनासा को रोककर शक्तिभर कुम्भक कर दाँयी नासा रेचन करे।

इस प्रकार की विधि से भस्त्रा कुम्भक होता है। इसकी अन्यान्य विधियाँ भी कही जाती हैं। उन सबका कथन अभीष्ट नहीं। घेरण्ड संहिता में कहा है—

भस्त्रैव लौहकाराणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत् ।

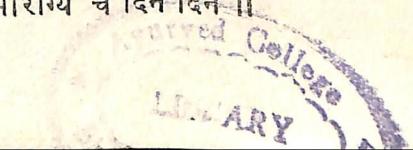
ततो वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ॥

एवं विशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम् ।

तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ॥

त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिका कुम्भकं सुधीः ।

न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने ॥



अर्थात्—लोहार की धौकनी से वायु भरने के समान नासिका द्वार वायु को उदर में भरकर धीरे-धीरे चलावे। इस प्रकार बीस बार कुम्भक करता हुआ वायु का धारण करे। फिर धौकनी से वायु बाहर निकालने के ही समान नाक से वायु को निकाले, विद्वानों ने इसी को भस्त्रिका कुम्भक कहा है। इसी प्रकार तीन बार करे तो किसी प्रकार का रोग और क्लेश नहीं होता तथा दिनों दिन आरोग्य की वृद्धि होती है।

भ्रामरी कुम्भक

वेगादघोषं पूरकं भृङ्गनादं
भृङ्गीनादं रेचकं मंदमंदस् ।

योगींद्राणामेवसभ्यासयोगा—

चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥६८

ठ्याख्या—वेगपूर्वक भौरे के समान मन्द-मन्द शब्द निकले, उस प्रकार से कुम्भक प्राणायाम करे अथवा शब्दमय प्राणायाम को मन्द-मन्द करे। इस भ्रामरी कुम्भक के अभ्यास से योगिकों के चित्त को आनन्द की प्राप्ति होती है। ॥६८॥

ठ्याख्या—इसके अभ्यास से योगी के मन में अत्यन्त आनन्द की क्रीड़ा का अनुभव होने लगता है। इसके विषय में घेरण्ड संहिता में विस्तृत विवेचन मिलता है। यथा—

धर्धरात्रि योगी जन्तूनांशब्दवर्जिते ।
कर्णोंपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक कुम्भकम् ॥
ऋणुयाद् दक्षिणे कर्णों नादमन्तर्गतं शुभम् ।
प्रथमं ज्ञिज्ञिनादं च वशीनादं ततः परम् ॥

मेघज्ञरभ्रमरी घण्टा कास्यं ततः परम् ।
तुरीभेरी मृदंगानि निनादानक दुँदुभिः ॥
एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात् ।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य योठवनिः ॥
ठवनेरन्तर्गतज्योतिज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनोविलयंयाति तत्विष्णाः परमं पदम् ।
एव च भ्रामरी सिद्धिः समाधि सिद्धिमाप्नुयात् ॥

अर्थात्—आधी रात व्यतीत होने पर जब जीव-जन्तुओं का शब्द सुनाई न दे, तब योगी हाथों के द्वारा कानों को बन्द करके पूरक और कुम्भक करे। इससे दाँये कान में अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। प्रथम झींगुर के बोलने का शब्द, फिर वंशीनाद, फिर मेघ, ज्ञर्जर, घण्टा, काँसे के पात्र तुरही, भेरी, मृदंग, दुन्दुभि आदि के शब्द सुनने में आते हैं। हृदयस्थ शब्द की प्रतिठवनि के मध्य साधक ज्योति को देखने लगता है। यह ज्योति ही ब्रह्म है, इसमें मनका लय होने पर विष्णु का परम-पद उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार भ्रामरी मुद्रा के सिद्ध होने पर समाधि की सिद्ध होती है।

मूर्च्छा कुम्भक

पूरकांते गाढतरं वद्धवा जाजंधरं शनै ।

रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥६९॥

टीका—पूरक प्राणायाम के अन्त में जलन्धर बन्ध को दृढ़ रूप से बाँधकर प्राणवायु का धीरे-धीरे रेचन करे मूर्च्छना संज्ञक कुम्भका सुखदायिनी तथा मनोमूर्च्छा के करने वाली है। ॥६९॥

ठ्याख्या—यह कुम्भक मनको आनन्द में ऐसा लौन कर देती है कि साधक को बाह्य विषयों की संज्ञा ही नहीं रहती। आशय यह है कि साधक की ऐसी अवस्था हो जाती है कि देखने वाले को ऐसा प्रतीत हो कि उसे मूर्छा आई है। इसमें भौंहों के मध्य मनको लय करने का निर्देश मिलता है।
यथा—

मुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च ध्रुवोरन्तरम् ।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्छसुखप्रदम् ।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ॥

अर्थात्—मुख के द्वारा वायु खींचकर कुम्भक करता हुआ साधक विषयों से मनको हटाकर भौंहों के मध्य में विश्वामान आज्ञाचक्र में लगावे और आज्ञाचक्र में विराजमान आत्मा में लय करदे। इसे आनन्द लाभ करने वाला सुखदायी मूर्छा कुम्भक कहते हैं।

प्लावनी कुंभक

अन्तः प्रतीतितोदारमास्तापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मशत्रवत् ॥७०॥

टीका—शरीर के मध्य में प्रवृत्त उदार वायु से परिपूर्ण उदर वाला साधक अगाध जल में भी कमलपत्र के समान सुखपूर्वक तैरता है। ॥७०॥

ठ्याख्या—यह प्लाविनी संज्ञक कुम्भक है, जिसे सिद्ध कर लेने पर योगी को अथाह जल से परिपूर्ण जलाशय में भी तैरने या उसे पार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

प्राणायाम के भेद कथन

प्राणायाम स्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो भतः ॥७१॥

यावत्केवल सिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं शुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥७२

टीका—प्राणायाम तीन प्रकार का होता है—रेचक, पूरक और कुम्भक। कुम्भक प्राणायाम के दो भेद हैं सहित और केवल। जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करे। रेचक और पूरक के अतिरिक्त सुखपूर्वक वायु धारण करने को केवल कुम्भक कहते हैं। ॥७१७२॥

ठ्याख्या—रेचक अर्थात् भरी हुई वायु को निकालना, पूरक अर्थात् बाहर से वायु खींचकर शरीर में भरना और कुम्भक अर्थात् भरी हुई वायु को शरीर में रोके रखना। इस प्रकार प्राणायाम के यह तीन भेद अथवा तीन अंग हैं। प्रारम्भ में तो इन तीनों के द्वारा ही अभ्यास करना होता है।

सहित और केवल के भेद से दो प्रकार के कुम्भक माने गये हैं। योगकुण्डलयुपनिषद् में कहा है—

प्राणरोधमथेदानी प्रवक्ष्यामि समासतः ।

प्राणश्च देहगो वायुदायामः कुम्भकः स्मृतः ॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।

यावत् केवल सिद्धिस्यात् तावत् सहितमध्यसेत् ॥

अर्थात्—प्राणनिरोध के विषय में कहते हैं कि शरीर में चलने वाले प्राण को वायु कहते हैं और जब वह वायु स्थिर हो जाती है तब कुम्भक कहलाता है। यह कुम्भक दो प्रकार का कहा है—सहित और केवल। जब तक केवल की सिद्धि न हो, तब तक सहित कुम्भक करते हुए अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायामोऽयमित्युक्तः सः वें केवलकुम्भकः ।

कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥७३॥

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रषु लोकेश विद्यते ।
 शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥७४
 राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
 कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥७५
 अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धश्च जायते ।
 हठं विना राजयोगं राजयोगं बिना हठः ॥
 न सिध्यति ततो युगमसानिष्टतः समर्थ्यसेत् ॥७६

टीका—इस प्रकार कहे हुए केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर रेचक, पूरक प्राणायाम का वर्जन हो सकता है और तब उस योगी के लिए संसार में कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता। जो अपनी इच्छा के अनुसार वायु धारण कर सकता है वही केवल कुम्भक में समर्थ होता है। उसके द्वारा राजयोग पद की प्राप्ति हो जाती है, इसमें संशय नहीं। उस कुम्भक की सिद्धि से कुण्डली जाग्रत होती है और कुण्डली के जागरण से सुषुम्ना अनर्गल होती है तथा हठयोग की सिद्धि हो जाती है। हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सिद्ध नहीं होता। इसलिए दोनों की ही सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए ॥७३—७६॥

ठ्याख्या—सहित कुम्भक में पूरक और रेचक करना भी आवश्यक होता है। क्योंकि पूरक रेचक के सहित होने से ही उसे सहित कुम्भक कहते हैं। परन्तु जब केवल कुम्भक का अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब पूरक-रेचक नहीं करना होता और इस प्रकार की सिद्धि होने पर उसे तीनों लोकों की सभी वस्तुएँ, सभी ऐश्वर्य सुलभ हो जाते हैं अर्थात् इच्छा करते ही स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।

इसी के द्वारा राजयोग की उपलब्धि होती है और इसी से मोक्ष मिल सकती है। क्योंकि इसके सिद्ध होने पर ही कुण्डलिनी को जाग्रत करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। जब कुण्डलिनी जागती है तब सुषुम्ना कफ आदि के बन्धन से मुक्त होकर, कुण्डलिनी को प्रविष्ट होने का मार्ग दे देती है। इससे हठयोग की भी सिद्धि हो जाती है।

राजयोग और हठयोग का परस्पर अदूट सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की सिद्धि असम्भव है। इसलिए साधक को दोनों के अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमर्थ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥७७॥

टीका—कुम्भक से प्राण को रोकने के अन्त में चित्त को निराश्रय करे। इस प्रकार अभ्यास करने से राजयोगपद की प्राप्ति होती है।

ठ्याख्या—कुम्भक के द्वारा प्राण का निरोध करने पर समाधि अवस्था हो सकती है। उस अवस्था होने पर ही ब्रह्माकार स्थिति होती है, उसमें निराश्रय अर्थात् अनासक्त रूप से चित्त का लय कर देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से ही राजयोगपद मिल सकता है।

बपुःकृशत्वं बदने प्रसन्नता

नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।

अशेगता बिंदुजयोगिनदीपनं

नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्ष्यम् ॥७८॥

टीका—शरीर में कृशता, मुख पर प्रसन्नता, नाद का प्राकृत्य, नेत्रों में स्वच्छता, रोग का अभाव, विन्दु का जय, अग्नि का दीपन और नाड़ी-शुद्धि, यह हठयोग के लक्षण हैं ॥७॥

ठ्याख्या—ग्रन्थकार का मत है कि हठयोग के सिद्धि हो जाने पर उक्त उपलब्धियाँ अनायास ही हो जाती हैं, उनके लिए साधक को कोई प्रयत्न नहीं करना होता ।

* हठयोग प्रदीपिका का द्वितीय उपदेश समाप्त *



तृतीय उपदेश कुण्डली बोध

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।

सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥१॥

टीका—जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है ।

ठ्याख्या—श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों की आश्रय स्वरूपा है । जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने कण पर धारण किये हुए, उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है । आशय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण है, उसके जागरण विना योग के सभी उपाय निष्फल रहते हैं ।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहु-वचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है । कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीन लोकों की तीन पृथिवी हुई, इसीलिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागति कुण्डली ।

तदा सर्वाणि पदमानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।

तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य बंचनम् ॥३॥

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भदन कर देती है। वैसे ही प्राण की शून्य पदवी जब रजपथ जैसी हो जाती है, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी बंचन होता है ॥२—३॥

ठ्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए गुरु की प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते हैं और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्क्रों और सब ग्रन्थियाँ को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है। उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुख-पूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है। उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंगं महापथः ।

शमशान शांभवा मध्यमागश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥

तस्मात्सर्वप्रवत्नेन प्रबोधयितुमीथरीम् ।

ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्वासं समाचरेत् ॥५॥

टीका—सुषुम्ना:—शू यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, शमशान, शांभवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं। इसलिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस

तृतीय उपदेश]

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ॥४—५॥

ठ्याख्या—सुषुम्ना, शून्य पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेद्यश्च खेचरी ।

उड्यानं मूलबंचश्च बंधो जालंधराभिधः ॥६॥

करणी विपरीताख्या वाज्ञोली शक्तिचालनम् ।

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ॥७॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टेश्वर्यप्रदायतम् ।

बल्लभै सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥

टीका—महामुद्रा महाबन्ध, महावेद, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विरीतकरणी वज्ञोली, शक्तिचालन, यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं। यह मुद्राएँ आदिनाथ द्वारा वह हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ हैं ॥६—८॥

ठ्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाले साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

न्हका है ! यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ है ।

गोपनीय प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।

कस्यचिन्तैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥६॥

टीका—यह सभी मुद्राएँ रत्नों को पिटारी के समान गृह रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार कि कल-स्त्रों का समागम नहीं बताया जाता ॥६॥

ट्याख्या—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावें । इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है । साधक का कर्तव्य है कि इनका अभ्यास एकत्र में ही करे ।

महामुद्रा कथन

पादमूलेन वामेन योनि संपीड्य दक्षिणम् ।

प्रसारितं पदं कृत्वा धराश्यां धारयेद्द्रढम् ॥१०॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्धवतः ।

यथा डंडहतः सर्पे दंडाकारः प्रजायते ॥११॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।

तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

टीका—बाँए पांव के तलुए से योनि स्थान को पीड़ित करके दाँए पांव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े । फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊँठव देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प दण्डे से मारे हुए के समान दण्ड के आकार का हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों

के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणावस्था जैसी हो जाती है ॥१०—१२॥

ट्याख्या—यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है । इसमें वाम पादमूल से योनि स्थान को दबाने और दाँए पांव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अङ्गुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए । तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करे । कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्धन करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है इसलिए मूलबन्ध पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं है ।

उक्त विधि के अभ्यास से डंडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती है और प्राण-वायु का सुषम्ना में प्रवेश हो जाने से इडा पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है । इसीलिए उस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है ।

ततः शनेःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।

महामुद्रां च तेनैव वन्दति विबुधोत्तमाः ॥१३॥

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धेः प्रदर्शिता ।

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥

महामुद्रां च तेनैव वर्दति विबुधोत्तमाः ॥१४॥

टीका—उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग से न करे । श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं । इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है । इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महा मुद्रा कहते हैं ॥१३—१४॥

ठ्याख्या—उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेगपूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाकलेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्या, स्मितता, राग द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाकलेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।

यावत्त लला भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

टीका—चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन करदे ॥१५॥

ठ्याख्या—चन्द्रनाडी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उपलक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तक भले प्रकार अभ्यास करता रहे और समान संख्या होने पर महामुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड सहिता में इस प्रकार कहा है—

पायुमूलं वामगुल्फे संपीडय दृढ़ यत्नतः ।

याम्यपादं प्रसार्यथ करेधृतं पदांगुलः ॥

कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥

अर्थात्—गृह्य प्रदेश को बाँधी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबावे और बाँये पाँव को फैला कर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़ले तथा कण्ठ को सकोड़ कर भौंहों के मध्य में हट्ठि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वैषिं नीरसाः ।

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

टीका—इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्यअपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है ॥१६॥

ठ्याख्या—महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान पचने योग्य अन्न भी पच जाता है। ‘ज्ञारणं तु कषायाय पातकानां विनाश्यरम्’ कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तंगुलमाजीर्णपुरोगमाः ।

तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥

कथितेयं महामुद्रा महासिंद्विकरा नृणाम् ।

गोपानीय प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

टीका—इसके अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुलम, अजार्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं। यह वर्णन की गई

महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखें, किसी को भी न दे ॥१७—१८॥

च्छाख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षायादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परमसिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य है।

महाबन्ध कथन

वार्षण वामस्थ पादस्थ योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१६॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबकं दृढः ।
निष्पोड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्थ दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥
मतमत्र तु केषांचित्कंठबन्धं विवर्जयेत् ।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥
अयं तु सर्वनाडोनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

टीका—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावें और बाँयी जंघा पर दाँया पाँव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी का हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावें और योनि को संकुचित करके मनको नाड़ी के मध्य प्रतिष्ठित करें। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रंचन करें। इस प्रकार बाँए अंग में समान रूप से अभ्यास करके दाँये अंग में करना

चाहिए अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध के कण्ठ के संकोच को न करें, क्योंकि राजदन्त स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रसास्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महाबन्ध अवश्य ही महासिद्धि का देने वाला है ॥१९—२३॥

च्छाख्या—बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जांघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लनाने से जो जालंधर बन्ध होता है उसे करके योनि-संकोच करता हुआ मूलबन्ध करे, परन्तु इस मूलबन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना अनावश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अंग में और फिर दक्षिण अंग में करे। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अथवा दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही कण्ठ संकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालंधर बन्ध कहलाता है।

कालपाशमहाबन्धविमोचन विचक्षणः ।

त्रिवेणीसङ्घम धत्तं केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

टीका—यह महाबन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है ॥२४॥

ठ्याख्या—जालन्धर बन्ध, उड़ान बन्ध और मूल-बन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महाबन्ध होता है, इसीलिए इसे विवेणा सगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदारं प्रापयेन्मनः कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितो ॥२५॥

टीका—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है वैसे ही महावेद के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं ॥२५॥

ठ्याख्या—इस श्लोक में महामुद्रा और महाबन्ध की निकृष्टता और महावेद के बिना उत्कृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेद के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेद की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

महावेद वर्णन

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधोः ।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२६॥

समहस्तयुगो भूमो स्फित्त्वा सताडयेच्छनैः ।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ।

मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

महावेदोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।

वलीपलितवेपैष्ठः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥

टीका—महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फित्त्वों को पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इडा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमशः, इडा, पिंगला को और सुषुम्ना से अमृतत्व को प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेद अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्वेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं ॥२६—२९॥

ठ्याख्या—महाबन्ध के पश्चात् महावेद की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के उठर्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेद में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इडा-पिंगला, का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और इडा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इडा, पिंगला में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विरेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेद सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न वालों का सफेद होना, चम का संकुचित होना और शरोर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्त्वापनिषत् में महावेद का लक्षण इस प्रकार बताया है—

वायुना गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया ।

पुटद्वय समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्त्वरम् ।

अयमेव महावेदः सिद्धेरभ्यस्यतेऽनिशम् ॥

अर्थात्—वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावेद का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते हैं।

एतत्त्रयं महागुट्यं जरामृत्युविनाशनम् ।

वह्निवृद्धिकरं चैव द्वयजिमाविगुणप्रदम् ॥३०॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे दिने दिने ।

पुण्यसंभारसंधायि पाषोधभिदुर् सदा ।

सम्यक्षिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥३१॥

टीका उक्त तीनों मुद्राएँ परम गुट्य एवं जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप करने वाली और अणिमादि सिद्धियों के देने वाली हैं। यह मुद्राएँ प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनी चाहिए। इनके द्वारा पुण्यों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए ॥३०—३१॥

ट्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि दीप होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनस पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इनका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुपरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।

शुवोरतर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ॥३२॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।

सा यावद्भूमध्य स्पृशति तदा खेचरीसिद्धि ॥३३॥

टीका—कपाल-कुहर मे विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौंहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥३२—३३॥

ट्याख्या—जिह्वा को ऊर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों मध्य में दृष्टि को स्थिर करे, इससे खेचरी होती है। छेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढ़ावे, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँए दाँए हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

स्नुहीपत्रनिभां शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्तिंगधनिर्मलम् ।

समादाय सतस्तेन रोममात्रं समुच्छनेत् ॥३४॥

ततः सैधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।

पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छनेत् ॥३५

एवं क्रमेण षष्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षष्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥३६॥

टीका—सेंहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले, चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ी का रोममात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सैंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घंपण करे । सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे । इस प्रकार के क्रम से नित्य प्रति करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा बन्ध नष्ट हो जाता है ॥३४—३६॥

ठ्याख्या—इन श्लोकों में खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है । स्नुही अर्थात् सेंहुण के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धार होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए । ऐसा करने से वहाँ धाव हो जाता है, उस पर सैंधे नमक और हरण का चूर्ण मलना चाहिए । चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है । जब सात दिन व्यतीत हो जाय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरण के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत जारी रखे ।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योग-भ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है । सात दिन के पश्चात जो छेद किया जाय, वह पहजे छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय ।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण मर्दन और प्रति सप्ताह छदन करते रहने से छः मास में जिह्वा मूल का शिरा बन्धन कट

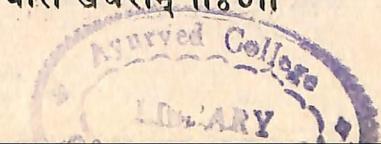
जाता है । यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके कटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसीलिए उस शिरा बन्धन को काटना आवश्यक होता है ।

कलां पराँड़सुखीं कृत्वा त्रिष्ठे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥३७॥
रसनामूर्धवगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैविमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

टीका—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर उसे उलटी पीछे को ओर लौटाकर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे । वह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं । जो जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग, बुद्धापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है ॥३७—३८॥

ठ्याख्या—कपाल-रन्ध्र, इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिष्ठ कहा जाता है । ऊपर की ओर लौटा कर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है । इससे सभी रोग, धातुओं को विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का भी क्षय हो जाता है । यह खेचरी मुद्रा व्योमचक्र भी कहलाती है ।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्स्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
ब्राध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥



[हठयोग प्रदीपिका

टीका—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु तन्द्रा, निन्द्रा, क्षुधा, तृष्णा और मूर्च्छा नहीं होतीं। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से वाधित नहीं होता ॥३६—४०॥

ठ्याख्या—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे भूख-प्यास, रोग, निन्द्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि यह तो निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं और निष्काम कर्म कर्ता को कभी अपने फलरूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्युरूपी बाधा भी नहीं होती। आशय यह कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़े और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धेनिरूपिता ॥४१

टीका—जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है।

ठ्याख्या—इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवर लंबिकोधर्वतः ।

न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडम् ।

ब्रजत्यूददर्भं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

**ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासाधेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥**

टीका—खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलाय-मान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँच कर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है ॥४२—४४॥

ठ्याख्या—खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु क्षरण नहीं होता। यदि बिन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय यो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिच कर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

‘सोमपानं करोति’ का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।

तक्षकेणापि दृष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥४५॥

इन्धनानि यथा वहिनस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।

तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुचति ॥४६॥

टीका—जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं

फलता । जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता ॥४५—४६॥

छ्याख्या—ऊर्ध्व विवर से स्वित होते हुए चन्द्रमृत के शरीर में परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है अर्थात् भयङ्कर सप भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझता है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल-बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, जब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता, यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है । सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहर में अस्ति होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता ।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।

कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥

गाशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।

गोमांसभक्षणं तत् महापातलनाशम् ॥४८॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवहिनोत्पादितः खलु ।

चन्द्रात्प्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४९॥

टीका—जो योगी नित्य प्रति रोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो

कुलघातक ही होते हैं । गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है । यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है । तालु के ऊपर वाले विवर में जिह्वा के प्रवेश से सम्भूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमरवारुणी है ॥४७—४८॥

छ्याख्या—योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस-भक्षण और वारुणी-पान है । 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर में जिह्वा का प्रवेश है । इस प्रकार यही गोमांस भक्षण है, इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए ।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करती है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर स्वित होने लगता है, अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से विन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है ?

चुम्बतो यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनो

साक्षारा कुकुम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।

व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोदीरणं

तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥५०॥

टीका—यदि रस को स्वित करने वाली क्षार, कटु, अम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालू के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक की सभी व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है ॥५०॥

व्याख्या—जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है। उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है। वह जिह्वा तालू के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है।

मूर्धन्यःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा—
दूर्धर्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परा चितयम् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निवर्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगो चिरं जीवति ॥५१

टीका—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरङ्ग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी कोमल देह वाला होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है ॥५१॥

व्याख्या—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरजीवी होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाती है।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरमूर्धातिरस्थं
तस्मिस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्ववति वपुषस्सेन मृत्युर्नराणां
सद्ब्रह्मनीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धि ॥५२

टीका—जिसमें यह आलेय स्थित है, उस छिद्रमें रजतम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्त्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख हैं तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्वित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता ॥५२॥

व्याख्या—प्रालेय अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है। जिन मनुष्यों की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का उलंघन किये रहती है यानी केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्मतत्त्व भी वहीं है तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्वित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है, इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्वित होते हुए उस अमृत का जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास करले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तिस्मिन्दून्मे निरंजने ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमैका मुद्रा च खेचरी ।

एको देवो निरालंबं एकावस्था मनोन्मनी ॥५४

टीका—नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरजन के लिए खेचरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बीज है, एक खेचरी मुद्रा है एक ही निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है ॥५३—५४॥

ठ्याख्या—इडा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेचरी की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणय है, वह एक ही है। यह संसार उसी प्रणव की महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। ‘ओमित्येदक्षर मिद ॐ सर्वं तस्योपयोख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोक्षार एवं, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदध्योक्षार एव’ (माण्डूक्योपनिषद्) अर्थात् ‘अविनाशी ब्रह्म ओंकारमय है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित करने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य वर्तमान रूप त्रिकालमय यह संसार ओंकार ही है और त्रिकाल से भी अतीत जो अन्य तत्त्व है, वह भी ओंकार ही है।

‘एका मुद्रा च खेचरी’ कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। इलोक में ‘एक’ पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

ओड्डीयाना बन्ध वर्णन

बद्धो येन सुषुम्नायाँ प्राणस्तूड्डीयते यतः ।

तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ।

उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥५६

टीका—जिससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं ॥५५—५६॥

ठ्याख्या—जिस बन्ध से बँधा हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उड़ाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है ‘उड्डीनं कुरुते’ अर्थात् ‘उड्डान करती है’ इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुद्धर्षी च कारयेत् ।

उड्डीयानो हृयसो बांधो मृत्युमातङ्गकेसरो ॥५७

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।

अभ्यसेत्सततं घस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥५८

टीका—उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डीयान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है, इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है ॥५७—५८॥

च्याख्या—उदर में स्थित टूंडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि वे दोनों भाग पाठ में लग जाय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं, क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

नाभेरुद्धर्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमध्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५६॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो द्युडिड्यानकः ।
उडिड्याने हृदे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

टीका—नाभि के ऊपर निचले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उडिड्यान बन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है ॥५६—६०॥

च्याख्या—उडिड्यान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात् आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार से मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी यहीं विदेह मुक्ति कहलाती है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। 'ततोन्मनी

भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

मूलबन्ध वर्णन

पार्छिणभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वंगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ॥६२॥

टीका—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बल-पूर्वक ऊर्ध्वंगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं ॥६१॥६२॥

च्याख्या—योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर वी ओर आकर्षण करे। वह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वंगं कुरुते बलात् ।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
अपाने चोर्ध्वंगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुता हता ॥

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुदं वाष्णवं तु संपीडच वायुमाकुचयेद्वलात् ।
वारं वारं यथा चोर्धवं समायाति समीरणः ॥६३॥

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन करके बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ॥६३॥

व्याख्या—मूलबन्ध की यह रीति योगबीज में कहीं हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाविदिक विशेषता के कारण इसका उल्लेख यहाँ हुआ है।

प्राणापानौ नादबिदू मूलबन्धेन चैकताम् ।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥६५॥

अपाने ऊर्ध्वर्गे जाते प्रयाते वृद्धिनमंडलम् ।

तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

टीका—अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण का ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वर्गामी होकर अग्नि मण्डल में पहुँचने पर वायु में ताड़ित होने के कारण अग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है ॥६४-६६॥

व्याख्या—नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि

योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है अर्थात् वली, पलित झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध के करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुँच जाता है अर्थात् नाभि में नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि से प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

ततो यातो वहनचयानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।

तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥६७॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सतप्ता संप्रबुद्ध्यते ।

दंडाहता भुजङ्गीवः निश्वस्य ऋजुताँ व्रजेत् ॥६८॥

टीका—तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिखा से गर्भ होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त ही जाती है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर डण्डे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है ॥६७-६८॥

व्याख्या—कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुचन अधोभाग में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाता है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में जाकर प्राणवायु से मिलकर

सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है। विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाडचन्तरं ब्रजेत् ।

तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६६॥

टीका—फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए ॥६६॥

छ्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट करने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।

बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥७०॥

दृष्टनाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ।

ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥७१॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ।

न पीयूषं पतत्यरनो न च वायुः प्रकुप्यति ॥७२॥

कठसंकोचेनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेददृढम् ।

मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥७६॥

टीका—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहुर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कंठ के रोग दुःखों का नाश करते वाला है लक्षण जिस कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़तापूर्वक कष्ट का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्ता मध्य चक्र जानना ॥७०—७३॥

छ्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्यं भावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुण्डलयुपनिषद् में कहा है—

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धरा भिधः ।

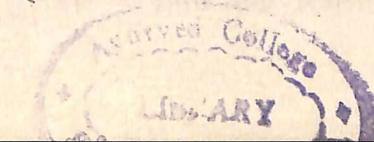
कण्ठ संकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः ॥

अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठं संकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमतांणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कण्ठ का संकोच तथा मध्य में उड़ियान बन्धद्वारा प्राणको खीचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तम्भन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोक कर बनान करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।



मूलस्थानं समाकुच्य उडिडयानं तु कारयेत् ।
 इडां च पिगलां बद्धवा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥
 अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
 ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७५॥
 बन्धवयमिदं श्रेष्ठ महासिद्धैश्च सेवितम् ।
 सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

टीका—मूल स्थान का भले प्रकार संकोच करके उडिडयान बन्ध करे, (जिससे इडा, पिङ्गला का स्तम्भन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय)। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है, तब रोग, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ॥७४—७६॥

ठ्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उडिडयान) को करना चाहिए तथा कण्ठ के संकोच से इडा-पिङ्गला का बन्धन करे, जो कि जालन्धर बन्ध से होता है तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाट्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुद्धापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उडिडयान बन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े-बड़े योगीश्वर, परम

सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को प्रयत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

यर्त्तिकचित्स्ववते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।

तत्सर्वं प्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥७७॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ।

गुरुपदेशातो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८॥

टीका—दिव्य तालमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिये सूर्य-मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यथा है ॥७७-७८॥

ठ्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उसे अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिये सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगी-श्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सदगुण ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

विपरीतकरणी मुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरुर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७८॥
मित्यमध्यासयुक्तस्य जठराग्निविबधिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

टीका—जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधो-भाग में तालु हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा को कर देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते हैं। नित्यप्रति अभ्यास में लगे रहने वाले योगी के लिए यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने वाली है तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है ॥७८—८०॥

ठ्याख्या—इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है। इसमें शिर नीचे और पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है। इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितनी भी खाया जाय सखलता से पच जाता है। परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है। क्योंकि—

अल्पाहारो यति भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥
क्षणाच्च फिच्चिदधिकमध्यसेच्च दिने दिने ।
बलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमध्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

टीका—यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक यदि अल्प आहार करता है तो प्रदीप जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पाँव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यासको एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में बली, पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है ॥८१—८२॥

ठ्याख्या—अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी सागर की जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती हैं। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो ही इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। इससे केशों का श्वेत होना, झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घस्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सब से यह भी प्रकट होता है कि योग को महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर हैं।

वज्रोली मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैनियमैविना ।
वज्रोलि यो विजानाति स योगो सिद्धिभाजनम् ॥८३॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूद्धवकुंचनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६

टीका—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएँ हैं, उन्हें मैं बताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को ज्ञाने से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे का बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के सचारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फत्कार करे जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए कूँक मारते हैं ॥८३—८६॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता है, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिए हूँध और स्त्री दुर्लभ वस्तु हैं। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुर्घट पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते हैं कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात् निवृत्ता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुर्घट-पान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधक के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा को सिद्धि किस प्रकार हो? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को ज्ञाने से रोकने क

[तृतीय उपदेश]

१३१
लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करना चाहिए। योग-तत्वोपनिषत् में कहा है—

वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम् ।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता ।
अतीतानागतं वैत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥

अर्थात्—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है और उसे आकाश-गमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनावाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करे। प्रथम दिन केवल एक अंगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल निःख बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अंगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढ़ी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढ़े और ऊर्ध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नल का लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ-मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध होजाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। बस, इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

नारीभगे पतर्दिवदुमभ्यासेनोर्धर्वगासरेत् ।
 चलितं च निजं बिन्दुमधर्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
 एवं संरक्षयेद्विदुँ मृत्यु जयति योगवित् ।
 मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
 सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
 यावद्विदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥
 चित्तायत्तं नृणां शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
 तस्माच्छुक्रं मनश्चैवे रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥
 ऋतुमत्या रजोऽप्येवं सम्यगुभ्यांसयोगवित् ।
 मेद्रेणाकर्षयेद्वृद्धर्वं सम्यगभ्यांसयोगवित् ॥९१॥

टीका—योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे । यदि बिन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए । इस प्रकार जो योगविद बिन्दु की रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यु को भी जीता लेता है । क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है । मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जीवन शुक्र के आश्रित है, इसीलिए शुक्र और मन दोनों को प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए । ऋतुमत्या स्त्री के रज की ओर अपने बिन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे । योगवेत्ता पुरुष मेद्र द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है ॥८७—९१॥

ठ्याख्या—पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास के द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किय

जा सकता है । पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के भी रज की रक्षा करनी चाहिए । क्योंकि रज या योर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है ।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए बिन्दु का आकर्षण किया जा सकता है । परन्तु इसका सिद्ध अभ्यास से ही सम्भव है । पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक में पुनर्स्थापित करना चाहिए ।

बिन्दु चित्त के अधीन है । यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्ते जना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय । इसीलिए स्त्री के विषय में चित्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता ।

‘शुक्रायत्त व जीवितम्’ कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं । इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय । क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शारार दुर्बल, रोग-ग्रस्त, और शक्ति-हीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है ।

सहजोजिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
 जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥९२॥

वज्रोलीमेथुनादूर्धर्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम् ।

आसीनयोः सुखेनेव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता शसुैया योगिभिः सदा ।
 अयं शुभकरो योगो भोगयुक्योऽपि सुवितदः ॥६४
 अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्वदर्शिनास् ।
 निर्मत्सराणा सिध्येत न तु मत्सरशालिनास् ॥६५

टीका—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएँ वज्रोली के ही भेद हैं। जलाये हुए कण्डों की सुन्दर भस्म को जल में डाल दे और मैथुनानन्तर उत्साह रहित होकर सुखपूर्वक बैठे हुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने आगों पर लेपन करे। यह सहरोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग भोग और मोक्ष दोनों देने वाला है। यह योग पुण्यवान, धीर, तत्वदर्शी और द्वेषरहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेषयुक्तों को सिद्ध नहीं होता। ६२-६५।

ठ्याख्या—वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएँ भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किञ्चित् विशेषता के साथ एक ही समझते हैं इसीलिए कुछ सहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, लवाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करे। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

अमरोली मुद्रा

पित्तोलवधत्वात्वात्प्रथमां विहाय निः सारतयांत्य-
 धारा । निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडम-
 तेऽबरोली ॥६६॥

अमरी यः पिवेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्निदनेदिने ।
 वज्रोलीमध्यसेतसम्यगमरोलोति कथ्यते ॥६७
 अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
 आरेयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥६८

टीका—अधिक पित्त वाली विन्दु-धारा को तथा सार-अंश-रहित अन्त्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृत को भस्म में मिलाकर उत्तम अंगों में धारण करे तो उसकी दिव्य दृष्टि हो जाती है। ६६-६८।

ठ्याख्या—प्रथम विन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल, शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि विन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवांबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन धारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु विन्दु-पातन करे।

‘शीतल मध्य धारा’ का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर थैष्ठ अंगों में मलना चाहये, निकृष्ट अंगों में मलने का निषेध समझे। उत्तमांगों में शिर कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। ‘दिव्य दृष्टिः प्रजायते’ का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना,

उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालिक मत में अमरोली कहलाती है।

नारी की वज्रोली के साधन कथन

पुन्सो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्जोल्या सापि योगिनी ॥६८॥
तस्याःकिंचिद्ग्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरेनादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥१००॥

टीका—सम्यक अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्राके द्वारा अपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी सतज्ञना चाहिए। उस नांरी का रज किंचित भी नाश को प्राप्त नहीं होता इसमें सशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिन्दु रूप हो जाता है। १६८—१००॥

ठ्याख्या—इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भी अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँच कर बिन्दुरूप हो जाती है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य का शरीर से बाह्य संयोग होने से सन्तानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कह जाता है। उन दोनों में चन्द्रमय और रज सूर्यमय है इनका योग होने से परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वेसिद्धि प्रयच्छतः ॥१०१॥
रक्षेदाकुंचनाद्वर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

देहसिद्धि च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं युष्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

टीका—वज्रोली के अभ्यास से वह बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो स्त्री योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्वं ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है। उसे भूत, भविष्यत का ज्ञान हो जाता तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती है। वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह सिद्धि होती है। यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है। १०१—१०३॥

ठ्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है। रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है। अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होनी कही हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिना को प्राप्त हो जाती हैं—

कुंडलिनी के पर्यायि कथन

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरोश्वरी ।
कुंडल्यरुधती चैते शद्वाः पर्यायिवाचकाः ॥१०४॥

टीका—कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अंरुधती यह सब पर्यायिवाचक हैं। १०४॥

ठ्याख्या—यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायिवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनों के ही हैं। क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है।



उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
 कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥
 येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
 मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥
 कदोधर्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
 बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

टीका—जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढककर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द उद्धर्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मर्दों के लिए बन्धन-प्रद हो जाती है, जो उसे जानता है वही योग का जानने वाला है ॥१०५—१०७॥

छ्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है। परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढककर सोती रहती है। वह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन में डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकती। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
 प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥
 —योगचूडामन्युपनिषद्

अर्थात्—प्राणधारिणी गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकोत्तिता ।
 सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
 गङ्गायमुनायोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनीम् ।
 बालत्कारेण गृहणीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥
 इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी ।
 इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डली ॥११०॥

टीका—कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सर्प के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है। इसमें सशय नहीं है। गगा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बाल-रंडा है, उसे बलपूर्वक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भगवती गंगा और पिंगला यमुना नदी है तथा इडा-पिंगला के मध्य में जो कण्डली है, वही बालरण्डा है ॥१०८—११०॥

व्याख्या—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साड़े तीन कुण्डल मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गंगा, यमुना कहकर यहाँ इडा और पिंगला नाड़ियों का महात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इडा नाड़ी गंगा के समान और पिंगला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य में तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है। यहाँ बालरण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोतों हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्त करने का उपदेश है।

शक्तिचालन मुद्रा

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूपमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा

प्रातश्च सार्यं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्यं सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य

नित्यं परिचालनीया ॥११२

ऋष्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरगुलम् ।
मृदुलं ध्वलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥११३॥
सति वज्रासने पादौ कशाभ्यां धारयेददृढम् ।
गुलफदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपोडयेत् ॥११४॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादिनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥११५॥

टीका—सोती हुई भुजगी की पूँछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थित हो जाती है। वह फणावती प्रातःकाल सायंकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से परित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पांवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा हड्डता से धारण कर उस कन्द का प्रपोडन करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलों को जाग्रत् करे ॥१११—११५॥

व्याख्या—पूँछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताङ्गित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घण्टे नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर यानी नाभि स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द को जो योनि है, वह पक्षी के अण्डे के समान है, जिसमें से बहत्तर नाड़ियां उत्पन्न होकर शरीर के सभी अंगों में गई हैं। वह कन्दस्थान कोमल और उज्वल वस्त्र के समान एक बिलांद भर लम्बा और चार अंगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पांवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचालन मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत् करना चाहिए। परन्तु इससे वह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन हो करे अन्य आसन न करे।

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलों चालयेत्ततः ।

मृत्युवक्षगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६॥

मुहूर्तेद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।

ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां सुखं ध्रुवम् ।

जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां वज्रति स्वतः ॥११८॥

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुंडली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिचती है। वैसा होने पर वह कुंडलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है, इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है ॥११६—११८॥

व्याख्या—नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का आकुंचन हो जाता है और सूर्य का आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त तक करने से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिए सुषुम्ना का मुखखुला मिलता है, इसलिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुण्डलीं चालयन्त्राणान्भेद यन्शशि-मण्डम्' (ब्र. वि. उ.) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्र मण्डल का भेदन करे। योगकुण्डलयुपनिषद् में कहा है—

अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठ संकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥

अर्थात्—अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कण्ठ का संकोचन और मध्य में पश्चिमताण से प्राण का आक-पंण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुधतीम् ।

तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११६॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।

किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

टीका—इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुख पूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र से ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। ॥११६—१२०॥

व्याख्या—व्याख्या सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु भी उसका कुछ विगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न ब धाओं और व्याधियों को वह क्रीडा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

ब्रह्मचर्यरत्स्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।

मंडलाद्दश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।

एवमध्यस्तो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥१२२॥

टीका—जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक ही विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ? ॥१२१—१२२॥

ठ्याख्या—ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम सदैव तत्पर योगी ही कुण्डलिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्यास करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनैः शनैः काल कलवित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती है।

'मण्डल' पद काल का वाचक है, चालीस दिन के परिमाण को मण्डल कहते हैं। विधि पूर्वक कुण्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मण्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते हैं अर्थात् उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम-परायण रहता है, अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसको साधना में कितने ही विघ्न क्यों न आकर उपस्थित हो जाय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।

कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥१२३॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।

आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरया भवेत् ॥१२४॥

टीका—कुण्डलिनी के अभ्यास बिना बहतर हजार नाड़ियों मल-शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या

है? यह मध्य नाड़ी योगियों के हड़ अभ्यास द्वारा आसन, प्राणायाम और मुद्रा से सरल होती है ॥१२३—१२४॥

ठ्याख्या—शरीर में बहतर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल से भरी रहती हैं। परन्तु कुण्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुल कर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिए श्लोक में कुण्डलिनी चालन के अभ्यास का कर्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इडा और पिगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

अध्याये तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।

रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धि प्रयच्छति ॥१२५॥

टीका—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएँ कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती हैं ॥१२५॥

ठ्याख्या—अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित्त की एकाग्रता अनिद्रित अवस्था में ही बनती है और उसी की समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शास्त्रीय मुद्रा से है। 'लक्ष्मे-न्तर्वाहियां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शास्त्रीय मुद्रा

भवति (मन्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्मिमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब वह शास्त्रीय मुद्रा होती है। 'और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः, तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।

राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥१२६

टीका—राजयोग के बिना पृथिवी, निशा और मुद्रा विलक्षण हों तो भी ग्रोभित नहीं होती ॥१२६॥

ध्याख्या—इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात् आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात् महामुद्रा आदि सभी निरर्थक हैं।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राज पुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणावरोध तब तक निष्फल है जब तक कि चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, चित्तवृत्ति असंयमित है तो उसका महत्व किसी उपयोग का नहीं।

मारुतस्य विधि सर्वं मनोयुक्तं समश्यसेत् ।

इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥१२७

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।

एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८

टीका—वायु-धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगा कर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नड़ीं लगानी चाहिए। आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई है। उनमें से कोई एक मुद्रा भी यमी (योगी) के लिए महासिद्धि के देने वाली हो सकती है ॥१२७—१२८॥

ध्याख्या—प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है। योगाभ्यासी पुरुष का कर्तव्य है कि वह मन को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दे। ऊपर जो दश मुद्राएँ कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं। उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है।

सदगुरु प्रशंसा

उपदेश हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।

स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।

आणिमादिगुणैः साध्वं लभते कालवंचनम् ॥१३०

टीका—मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है। उसके

वाक्यों में तत्पर हौकर जो साधक मुद्रा के अभ्यास में सावधान होने पर अणिमादि सिद्धियों को प्राप्ति और काल के बचन की उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं ॥१२८-१३०॥

छ्याख्या—सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ नाथ सम्प्रदाय है जो कि श्री आदि नाथजी से ही प्रारम्भ हुआ था । उस सम्प्रदाय के उपदेश को जो सद्गुरु प्रदान करे, वह निश्चय ही साक्षात् रूप से परमेश्वर है । अर्थात् उम्प्रदाय के अनुसार योग का उपदेश करने वाले गुरु के बचन में जिज्ञासु को शब्दा और विश्वास रखते हुये, उन्हीं के अनुसार चलना चाहिए । गुरु के बचनों में इस प्रकार परायण जिज्ञासु समाहित चित्त से योगाभ्यास में तत्पर हो जाय तो उसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं, साथ ही वह मृत्यु के उल्लंघन में भी समर्थ होता है ।

॥ हठयोग प्रदीपिका का तृतीयोपदेश समाप्त ॥

चतुर्थ उपदेश समाधि वर्णन

नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ।
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायशः ॥१॥
अथेवानोः प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युधनं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥२॥

टीका—शिवरूप गुरु को नमस्कार है, जो कि नाद, बिन्दु कलारूप हैं । उनके नित्य परायण रहने से निरंजन पद को प्राप्त होता है । इस अवसर पर मैं समाधि के श्रेष्ठ क्रम को कहता हूँ, जो कि सुख का उपाय रूप मृत्यु का नाशक और परम ब्रह्मानन्द का कर्ता है ॥१-२॥

छ्याख्या—गुरु अपनी प्रसन्नता और उपदेश के द्वारा सभी विघ्नों का हरण करने में समर्थ है । इसीलिए विघ्नों की आशंका करता हुआ ग्रन्थकार चतुर्थ उपदेश प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु को ईश्वर रूप मानकर उनको नमस्कार करता है ।

गुरु को नाद, बिन्दु, कला रूप से विद्यमान कहा है । काँसी के घण्टा के समान शब्द नाद, अनुस्वार के पश्चात् होने वाली ध्वनि बिन्दु और नाद का एक देश कला कहलाता है । यह तीनों ही शिवरूप माने गये हैं । इसलिए शिवरूप गुरु में परायण साधक नादानुसंधान में परायण रहता हुआ मायोपाधि रूप निरंजन शुद्ध ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है ।

द्वितीय श्लोक में समाधि के वर्णन की प्रतिज्ञा निहित है। यह समाधि क्रम आदिनाथ द्वारा वर्णित, समाधि के सभी भवित्वों में व्येष्ठ है इससे मृत्यु का निवारण होना व्यक्त किया है जिसका अनिवार्य है कि शरीर त्यागने की इच्छा होने पर ही मृत्यु हो सकती है। अथवा उत्पत्ति और मन-वासना का नाश होने पर जीवन्मुक्तिरूप सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार 'मृत्युन्ध' कहना सार्थक है।

ब्रह्मानन्दकरं 'परम्' का आशय है कि प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर जब जीवात्मा-परमात्मा के अभेद का ज्ञान होने पर आत्यन्तिक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति रूप सोक्ष हो जाता है, यही ब्रह्मानन्द है। श्रुतियों में भी यही कहा है कि आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी जीवित रहता हुआ भी हर्ष-शोक से मुक्त रहता है। इस प्रकार निर्विकार रूप में अवस्थिति रूप जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

प्राप्त हुए भोगों के अनन्तर अन्तःकरण के गुणों की अधिकता होने पर औपाधिक रूप की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। तब प्रति प्रसव से आत्यन्तिक रूप में अवस्थान सिद्ध होता है। तथा व्युत्थान का निरोध और समाधि का संस्कार मन में लीन हो जाते हैं, मन अस्मिता में लय को प्राप्त हो जाता है। अस्मिता महान् में लय होता और महान् का लय प्रधान में होता है। इस प्रकार अपने-अपने कारण में सभी कार्य लय को प्राप्त हो जाते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि में ज्ञात हुए आत्म तत्व का यथार्थ निश्चय होता है और अतात्विक अन्यथा भाव अधिकारिता का अप्रयोजक रहता है। मनुष्य को जो अन्तःकरण रूप उपाधि से मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय या वैश्य आदि हूँ, ऐसा व्यवहार

होता है, वह तात्त्विक नहीं है। इस प्रकार निज स्वरूप अवस्थिति के समान अन्तःकरण की सब वृत्तियों के निरोध से निज स्वरूप में विद्यमानता की समाप्ति नहीं रह सकती इसका आशय यह है कि जीवन्मुक्ति की अवस्था होने पर साधक की स्थिति ब्रह्मरूप में रहती है और ग्रन्थकार के अनुसार यही परम गुरु ब्रह्मानन्द को उत्पन्न करने वाली अवस्था है जो शिवरूप की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है।

शास्त्र का वचन है कि—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थं वाचकाः ।

तथा मन्त्रो देवता च मुरुश्चैकार्थं वाचकाः ।

अर्थात्—जैसे घट, कलश और कुम्भ एक ही अर्थ के वाचक हैं, वैसे ही मन्त्र, देवता और गुरु भी एक ही तत्व के नाम हैं।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनो च मनोन्मनो ।

अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥३

अमरत्वं तथाद्वैतं निरालंबं निरञ्जनम् ।

जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥४

टीका—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व लय, तत्व, शून्याशून्य परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या—यह सब एक के ही वाचक हैं ॥३—४॥

च्याख्या—उपर्युक्त सभी नाम एक समाधि के ही हैं। आगे इन पर पूर्ण प्रकाश डाला जाता है—

सालिले सैन्धवं यद्वत्सास्यं भजति योगतः ।

तथात्ममनसोरैव्यं समाधिरभिधीयते ॥५

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥६॥
तत्समं च द्वयोरैवयं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥७॥

टीका—जैसे जल और सैंधव मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और मन ऐक्य समाधि कहलाता है, जब प्राण समान रूप से क्षीण होता और मन भी लीन हो जाता है तब वह समरसता समाधि कही जाती है। उसी के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ऐक्य होने पर सभी संकल्प नष्ट हो जाते हैं मन समाधि अवस्था कही जाती है ॥५—६॥

च्छाख्या—जल में नमक डाल दें तो नमक घुलकर जल रूप हो जाता है और तब नमक का पृथक् अस्तित्व दिखाई नहीं देता, वैसे ही मनका आत्मा में लय हो जाने पर समाधि की अवस्था हो जाती है।

आत्मा में धारण किये मन का आत्मा से तादात्म्य होने पर आत्मा और मन का वह ऐक्य भी समाधि है। उसी प्रकार जीवात्मा-परमात्मा की तादात्म्यता में समाधि होती है। अन्पूर्णोपनिषद् में भी यही कहा है—

समाधिः सविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ।

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।

एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही समाधि है, क्योंकि आत्मा नित्य, सर्व व्यापी, कूटस्थ और निर्दोष है। समाधि में रहकर जब सर्वभूतों को नहीं

देखता, वरन् परमात्मा के साथ एक रस हो जाता है, तब वह केवल परब्रह्म ही हो जाता है।

इसका अभिप्राय यही है कि जीव-ब्रह्म की एकता का भाव ही समाधि है।

राजयोग प्रशंसा

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।

ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥८॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥९॥

विविधैरासनैः कुर्मभैर्विचित्रैः करणैरपि ।

प्रबुद्ध्यां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥१०॥

टीका—राजयोग के माहात्म्य को तत्त्वरूप से कौन जानता है? ज्ञान, मोक्ष, स्थिति और सिद्धि की प्राप्ति गुरु के उपदेश से ही होती है। जब तक सद्गुरु की कृपा न हो, तब तक विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान दुर्लभ है और सहज अवस्था भी दुर्लभ ही है। विविध प्रकार के आसन, विचित्र प्रकार के कुम्भक और करण आदि के द्वारा महाशक्ति के प्रबुद्ध होने पर प्राण शून्य में लीन हो जाता है ॥८—१०॥

च्छाख्या—राजयोग की प्रशंसा करते हुए ही ग्रन्थकार ने को वा जानाति तत्त्वतः? कहा है। इसका आशय यह है कि राजयोग के माहात्म्य को कोई भी नहीं जानता, केवल गुरु ही जान सकते हैं क्योंकि आत्मज्ञान, विदेह मुक्ति, स्थिति अर्थात् निविकार रूप में अवस्थित रूप जीवन्मुक्ति और अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती हैं।

इन्द्रियों के विषय अत्यन्त प्रबल होते हैं, उनकी निवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, परन्तु गुरु की कृपा हो तो उनके उपदेश से विषयों से विरक्ति हो सकती है। 'तत्त्व-दर्शन' का आशय है आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव, यह तो बहुत ही कठिन है, परन्तु सद्गुरु की कृपा से वह भी मुलभ हो जाता है।

सहजावस्था की प्राप्ति भी कोई सरल कार्य नहीं है। सहजावस्था का अर्थ है तुरीयावस्था। यदि सद्गुरु को प्रसन्न कर लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि साधक को इस अवस्था की उपलब्धि न हो जाय।

विविध प्रकार के आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास गुरु की कृपा से ही सिद्ध होता है और उसके फल स्वरूप कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है। उसके जागने पर ही प्राणावायु का शून्य में लय होना सम्भव है। शून्य का तात्पर्य ब्रह्मरन्ध से है और प्राण का ब्रह्मरन्ध में लीन होना सद्गुरु की कृपा से सुगम हो जाता है।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।

योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥११

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।

तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥१२

टीका—शक्ति-बोधकी उत्पत्ति और सर्व कर्मों का त्याग होने पर योगी को सहजावस्था की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होता और मन शून्य में चला जाता है, तब योग का ज्ञाता साधक अपने सब कर्मों को निर्मूल कर लेता है ॥११—१२॥

वच्चाख्या—सब कर्मों का त्याग और कुण्डलिनी का जागरण सहजावस्था की प्राप्ति में सहायक होता है। साधक जब आसन लगाकर बैठता है तब शरीर के व्यापार का त्याग हो जाता है और उस व्यापार की विद्यमानता प्राण और इन्द्रियों में रही आती है। प्रत्याहारादि से मन का व्यापार भी छूट जाता है, परन्तु बुद्धि का व्यापार बना रहता है, जिसका अभाव श्वेष वैराग्य से ही हो सकता है। किर भी कुछ रह जाता है तो समाधि के अभ्यास की प्रवलता उसे निर्मूल कर देती है और तब जिस निविकार स्वरूप में स्थिति होती है, वही सहजावस्था होती है।

जब कुण्डलिनी के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर प्राणवायु भी सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है, तब मन का प्रवेश देश, काल और वस्तु के परिच्छेद आदि से शून्य ब्रह्म में होता है, जिससे योग का जानने वाला साधक चित्त का निरोध करता हुआ अपने सभी कर्मों को समूल नष्ट कर डालता है। यही इसका आशय है।

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ।

पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥१३

चित्ते समत्वमापन्ने वायो व्रजति मध्यमे

तदामरोली बज्रोली सहजोली प्रजायते ॥१४

टीका—उस अमर को नमस्कार हैं, जिसने उस काल को भी जीत लिया है, जिसके मुख में यह चराचर जगत् पड़ा हुआ है। जब चित्त समत्व को प्राप्त हो जाता है और वायु सुषुम्ना में पहुँच जाता है, तब अमरोली बज्रोली, सहजोली मुद्राएँ सिद्ध होती हैं ॥१३—१४॥

ठ्याख्या—योगी पुरुष सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब अमर हो जाता है, वह दुःख के घोर कारण रूप काल को भी जीत लेता है। चराचर रूप यह सम्पूर्ण हश्यमान जगत् उसी काल के मुख में पड़ा हुआ है, परन्तु योगी पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं है।

टीका—अमरोली, वज्रोली, सहजोली आदि मुद्राओं की सिद्धि समाधि के सिद्ध होने पर स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। अन्तःकरण रूप चित्त ध्येय वस्तु के आकार प्रवाह को प्राप्त हो जाता है और प्राणवायु सुषुम्ना में घुसता है, तब चित्त की समता होने पर इन मुद्राओं की भले प्रकार सिद्धि हो जाती है। ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्प्रणोर्पि
जीवति मनो च्छ्रियते न यावत् ।

प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो

मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्धः ॥१५॥

टीका—जब तक प्राण जीवित रहता है, तब तक मन भी नहीं मरता, फिर ज्ञान ही कहाँ से होगा। जो पुरुष प्राण और मन दोनों का लय कर देता है, वही मोक्ष को प्राप्त होता है, कोई अन्य पुरुष नहीं हो सकता ॥१५॥

ठ्याख्या—हठयोग के अध्यास के बिना ज्ञान और मोक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं है और हठ का अध्यास तभी बन सकता है जब मनको वश में कर लिया जाय। परन्तु मन का वश होना तब तक असम्भव है, जब तक कि प्राण के साथ इन्द्रियाँ भी जीवित रहती हैं। इडा और पिगला में जब तक प्राण बहता है तब तक उसका जीवित रहना मानते हैं, क्योंकि इडा, पिगला को छोड़कर जब वह सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है तब मनुष्य की अवस्था मृतक जैसी हो जाती है।

इन्द्रियाँ जब तक अपने-अपने विषयों के ग्रहण में समर्थ रहती हैं, तब तक उनका जीवित रहना समझना चाहिए। उन विषयों की उत्पत्ति मन से होती है और जब तक मन उन विषयों को उत्पन्न करता रहता है, तब तक मनका जीवन रहता है। इस प्रकार इन्द्रिय और मन का अपने-अपने कार्य से निवृत्त हो जाना ही उनका मरण है।

इस प्रकार प्राण, मन और इन्द्रियों के चेष्टाशील रहने से आत्मसाक्षात्कार रूप अनुभव का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं। क्योंकि प्राण, मन और इन्द्रियों की वृत्ति ज्ञान में अवरोध स्वरूप होती है। इसलिए प्राण और मन का विशेष रूप से लय करने वाला योगी आत्यन्तिक स्वरूप में स्थिति रूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। 'सत्वं पुरुषयो शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति' (यो. द.) अर्थात् 'चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।'

प्राण का लय क्या है? व्यापार-रहित प्राण की ब्रह्म-रन्ध्र में स्थिति ही प्राण का लय माना गया है। यथा—

प्राण शक्तौ निश्चायां मनो राम विलीयते ।

द्रव्यच्छायानुतद्रद्वयं प्राणरूपं हि मानसम् ॥

— योगवसिष्ठ ५।१३।८३

अर्थात्—हे राम! प्राणशक्ति का निरोध होने पर मन का लय हो जाता है। जैसे पदार्थों की छाया ही पदार्थ होता है, वैसे ही प्राण की छाया मन है।

इससे सिद्धि हुआ कि प्राण और मनमें अभेद है क्योंकि प्राणवृत्ति विलीनायाँ मनोवृत्ति विलीयते' (वोधसार) अर्थात् 'प्राणवृत्ति के विलीन होने से मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है।' और प्राण का विलय होने का अर्थ उसकी वृत्ति का ब्रह्म-

रन्ध्र रूप शून्य में लय हो जाना ही है। यदि मन का लय नहीं होता तो प्राण का लय भी नहीं हो सकता, उस स्थिति में योगी हजारों उपायों के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। यह मत सभी शास्त्रों का है।

अध्यात्म योग की प्राप्ति के लिए मन से हृष्ट-शोक का त्याग करना आवश्यक है। उनके त्याग से शब्दा, भक्ति की उत्पत्ति के साथ योग के अष्टाङ्गों में प्रविष्ट हो सकती है। उस प्रवृत्ति की दृढ़ता होने पर साधक को आत्मदर्शन की अभूतपूर्व अनुभूति होती है, उस समय मन-सहित पंचज्ञानेन्द्रियों के विषयों से रहित होने पर साधक अप्रमत्त होकर आत्मतत्त्व के रूप में ब्रह्मतत्त्व के दर्शन करता है, वही उसको परमपद की प्राप्ति मानी जाती है। इसीलिए ब्रह्मोपनिषद् का उपदेश है कि—

आत्मनमरणं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यां साद्वदेवं पश्येन्तिनग्नद्वत् ॥

अर्थात्—आत्मा को नीचे की अरणि और प्रसव को ऊपर को अरणि बनाकर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।

और उस आत्म साक्षात्कार से ही मनुष्य संसार के सर्व बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अनेक स्थानों पर आत्मा की उपासना ओंकार रूप से करने का उपदेश मिलता है। क्योंकि जो ओंकार है वही ब्रह्म है—

यस्मिन् स लीयते शब्दस्तपरं ब्रह्म गीयते ।

सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

अर्थात्—जिसमें वह 'ओंकार' शब्द लीन होता है, वही पर-ब्रह्म कहा जाता है वही अमृतत्व माना गया है, यह सत्य है।

इस प्रकार प्राण और मनके विलय से मोक्ष की प्राप्ति कहा है, वह सन्देहास्पद नहीं मानी जा सकती। मोक्ष क्या है?

इसका समाधान कुछ विद्वान् इतना ही करते हैं कि चित्त वृत्ति का निविकार हो जाना ही मोक्ष है? क्योंकि शरीर में आत्म-भाव ही विकार है और वही विकार जीव के लिए बन्धन स्वरूप है। 'देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदां (तेजोबिन्दु)' अर्थात् 'सूक्ष्म, स्थूल और लिंग इन तीनों शरीरों की असत् समझना चाहिए, तीनों काल भी सदा असत् ही है' इसलिए साधक आत्मा को देह से भिन्न समझता हुआ आत्मा और परमात्मा में अभेद-दर्शन करे। तेजोबिन्दुपनिषद् के ही अनुसार-ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः ।

ध्यान शब्देन विख्यातः परमानन्द दायकः ॥

अर्थात्—मैं ब्रह्म हूँ 'ऐसी निराश्रय श्रेष्ठ वृत्ति में स्थित होना ही ध्यान शब्द से विख्यात परम आनन्द के देने वालों अवस्था है।

इन सबसे सिद्ध होता है कि प्राण और मनके लय होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप जो आलम्ब-रहित श्रेष्ठ वृत्ति होती है, वह परमानन्द प्राप्त करने वाली और सुख-दुःख से निवृत्त करने वाली जीवन्मुक्ति रूपी मोक्ष है।

जीवन्मुक्ति का लक्षण

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ।

स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरीधयेत् ॥१६॥

टीका—श्रेष्ठ स्थान में रहकर और सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर साधक प्राणवायु का सुषुम्ना में संचार करे ॥१६॥

ठथ्याच्छ्या—इति श्लोक में प्राण के लय की विधि बताई गई है। साधक किसी श्रेष्ठ स्थान में जाकर योगाभ्यास करे। श्रेष्ठ स्थान के विषय में पहले बता चुके हैं कि उत्तम राज्य हो

और धार्मिक स्थान हो, वहाँ एकान्त में बैठकर साधना करनो चाहिए और गुरु के उपदेश से सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर प्राणवायु को उसमें प्रविष्ट करना चाहिए। वह प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, वहाँ उसका निरोध करे।

इस प्रकार प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना ही मन का लीन हो जाना है और मन के लीन होने से कोई विकार शेष नहीं रहता, निर्वाण ही शेष रहता है। यही साधक की श्रेष्ठ स्थिति है।

प्राणलय से कालजय कथन

सूर्यचिंद्रसौ धत्तः कालं रात्रिदिवात्मकम् ।

भोवत्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥१७॥

टीका—सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि-दिवसात्मक काल के धारण करने वाले हैं और उस काल को भोगने वाली सुषुम्ना है, यह गुह्य रहस्य प्रकट किया है ॥१७॥

ठ्याख्या—प्राण का लय हो जाने पर ही योगी काल को जीतने में समर्थ होता है। सूर्य और चन्द्रमा दिन-रात्रि स्वरूप काल को उत्पन्न करते हैं और सुषुम्ना नाड़ी उस दिन-रात्रि अर्थात् एक घण्टा सूर्य स्वर और एक घण्टा चन्द्र स्वर के प्रवाहित रहता है। सूर्य स्वर के प्रवाह वाला समय दिन और चन्द्र स्वर के प्रवाह वाला समय रात्रि होता है। इस प्रकार दिन रात्रि रूप काल दो घण्टे में ही पूरा हो जाता है और इसके अनुसार चौबीस घण्टे में योगियों के बारह दिन-रात्रि व्यतीत हो जाते हैं।

जब सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता तब उसके लिए दिन-रात्रि रूप काल का अभाव हो जाता है, इसी लिए सुषुम्ना को काल का भक्षण करने वाली कहा है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु जितने समय तक स्थित रहता है, उतने ही समय के लिए योगी की आयु वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार दीर्घकाल तक इसका अश्यास सिद्धि कर लेने वाला योगी अपना मरण-काल निकट जानकर, यदि जीवन की इच्छा करता है तो प्राणवायु को सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर निरुद्ध करता है तब उसकी मृत्यु नहीं होती। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि योगी की स्वेच्छा मृत्यु होती है।

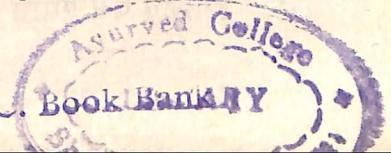
द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ।

सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

टीका—मनुष्य शरीर में बहतर हजार नाड़ियों के द्वार हैं, उनमें सुषुम्ना नाड़ी शास्मभवी शक्ति है और शेष सब नाड़ियाँ निरर्थक हैं ॥१८॥

ठ्याख्या—‘पञ्जर’ का अर्थ है अस्थि-नाड़ों से बँधा हुआ शरीर। मनुष्य शरीर में बहतर हजार नाड़ियाँ होती हैं, परन्तु वे शरीर में अन्न-रस वहन करने का ही कार्य करती हैं, जो कि देहासक्त व्यक्तियों के लिए तो उपयोगी होती हैं, परन्तु योगी के लिए उनका महत्व शरीर-यात्रा चलाने भरके लिए है, उसे उनसे मोह नहीं रहता। क्योंकि वह शरीर-परक न होकर आत्मा-परक होता है।

उन बहतर हजार नाड़ियों में एक सुषुम्ना नाड़ी ही ऐसी है, जो साधक के लिए विशेष रूप से उपकार करने वाली सिद्ध होती है। उसी को मध्य नाड़ी भी कहते हैं। विद्वानों ने उसे



शास्त्री शक्ति भी कहा है, क्योंकि वही नाड़ी साधक को शिव की प्राप्ति कराने में सहायक होती है।

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।

बोधित्वा सुषुम्नायाँ प्रवेशेदनिरोधतः ॥१६॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धचत्येव मनोन्मनी ।

अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥२०॥

टीका—परिचित हुआ वायु जठराग्नि के साथ कुण्डली को बोधित करके अविरोध रूप सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवाहित होता है, तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध हो जाती है। योगियों के इससे अन्य अभ्यास के जितने भी प्रयास हैं, वे सब व्यर्थ होते हैं ॥१६—२०॥

च्याख्या—परिचित का अर्थ है अभ्यस्त और अभ्यास किया हुआ वायु ही जठराग्नि के साथ मिल कर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में समर्थ होता है। अधोगतिमपान वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् इत्यादि (यो. कु. उ.) से अपान वायु ऊपर जाकर अग्नि मण्डल से मिलता है तब अग्नि की तीव्रता बहुत बढ़ जाती है, उस ताप से सन्तप्त हुई कुण्डलिनी जाग्रत होती है और सुषुम्ना के मुख में घुस जाती है।

जब कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना प्रविष्ट हो जाती है, तब सुषुम्ना का मुख खुला रहता है, जिससे प्राण के मार्ग में भी कोई रुकावट नहीं रहती और वह भी उसमें घुस कर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, तो मनोन्मनी अवस्था हो जाती है। इसलिए योगियों के लिए इसी का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अन्य किसी प्रकार के अभ्यास से मनोन्मनी अवस्था नहीं हो सकती, इसलिए वैसे प्रयास निष्फल ही समझने चाहिए।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।

मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥२१॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।

तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥२२॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।

पवनो लीयते वत्र मनस्तत्र विलीयते ॥२३॥

टीका—जिस अभ्यास से योगी वायु का बन्धन करता है, उसी से मन का बन्धन कर लेता है। इस प्रकार जिससे मन का बन्धन होता है, उसी से वायु का बन्धन हो जाता है। चित्त की प्रवृत्ति में दो हेतु होते हैं वासना और वायु। इनमें से एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है। जहाँ मन विलीन होता है वहाँ वायु विलीन होता है और जहाँ वायु लीन होता है, वहाँ मन भी लीन हो जाता है ॥२१—२३॥

च्याख्या—प्राणवायु के अभ्यास से योगी जब मन को वश में कर लेता है, तब उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। मन का धर्म है चिन्तन और मन के लय से चिन्तन का त्याग होकर निश्चिन्तता का उदय होता है। मन क्या है? इस विषय में विद्वानों का मत है कि प्राण का स्पन्दन ही मन है, परन्तु प्राण के स्पन्दन-रहित होने पर मन की रक्षा होती है। इस प्रकार प्राण ही मन की रक्षा करता है क्योंकि सुषुम्ना में चढ़ता हुआ प्राण जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर लीन हो जाता है तब उसके साथ मन का भी लय हो जाता है। इससे समझा जा सकता है कि जिससे प्राण का बन्धन है उसी से मन का भी है और जिससे मन का बन्धन है, उसी से प्राण का बन्धन होता है।

[हठयोग प्रदीपिका

१६४

चित्त की प्रवृत्ति दो कारणों से होती है, एक तो वासना से और दूसरे वायु से। इन दोनों में से एक नष्ट हो जाय तो वे दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वासना के नष्ट होने पर वायु और चित्त नष्ट होते हैं और वायु के क्षीण होने पर चित्त और वासना का नाश हो जाता है। इसका सीधा साधा अर्थ है कि चित्त से वासना का विकार दूर होते ही चित्त शान्त हो जाता है और चित्त के शान्त होने पर ही तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

कुछ विद्वानों के विचार में तत्त्वज्ञान होने पर ही चित्त के संयम से वासना का शमन हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त की प्रवृत्ति, वासना और प्राणवायु इन तीनों का बंधन आवश्यक है इसके बिना आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए इन तीनों के बन्धन का अभ्यास योगी के लिए कर्तव्य है।

जहाँ मन का लय ही, वहीं वायु का लय होगा और जहाँ वायु का विलय हो, वहीं मन का विलय होता है। अर्थात् प्राणवायु के साथ संयुक्त हुआ मन भी ब्रह्मरन्ध्र में ही जाकर लय को प्राप्त होता है। 'वायु' बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव सम-भ्यसेत्' इत्यादि (यो. कु. उ.) अर्थात् 'प्राणवायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का उचित रूप से अभ्यास करके योगिजन ऐक्यरूपता की समाधि तक पहुँच जाते हैं।'

इस प्रकार साधक को प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। उसी से मन पर भी विजय प्राप्त हो सकती है और मन-प्राण का जीता जाना ही तत्त्वज्ञान की उपलब्धि है।

दुर्घांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमाख्यतौ हि ।
यतोमहत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्थतो मनस्तत्र महत्प्रवृत्तिः ॥२४
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकवृत्तोर परप्रवृत्तिः ।
अध्वतयोश्चचेद्विद्वर्गवृत्तिं प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धिं ॥२५
रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्धचति भूतले ॥२६

टीका—दुर्घ और जल के समान संयुक्त मन और वायु तुल्य क्रिय हैं। जहाँ वायु की प्रवृत्ति है, वहाँ मन की प्रवृत्ति है और जहाँ मन की प्रवृत्ति है, वहाँ वायु की प्रवृत्ति है वहाँ एक के नाश से दूसरे का नाश होता है, एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब तक सब इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना नहीं सकता, तब तक मोक्षपद की सिद्धि भी सम्भव नहीं है। रस और मन स्वभावतः ही चपल होते हैं, रस और मन बद्ध हो जाय तो भूतल पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? ॥२४—२६।

व्याख्या—जैसे दूध और जल मिलकर एक हो जाते हैं उनके रूप और क्रिया में कोई अन्तर नहीं रहता, वैसे ही मन और प्राणवायु के संयोग को समान समझना चाहिए। तुल्यक्रिय का अर्थ है दोनों की प्रवृत्ति का एक समान होना। जिस स्थान में मन की प्रवृत्ति होती है, उसी स्थान में प्राण की प्रवृत्ति होती है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः प्रंवधा संविवेश ।

प्राणैश्चितं सर्वमौतं प्रजानां

यस्मिन् विशुद्धै विभवत्येष आत्मा ॥

अर्थात्—जिस शरीर में पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है, शरीरधारियों का मन उसी प्राण से व्याप्त है। यह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जाना जाता है और उस मन के शुद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार से सशक्त हो जाता है।

इस प्रकार मुण्डक में भी मन को प्राण से व्याप्त कहकर उनकी समानता ही प्रकट की गई है। एक-दूसरे का इतना तादात्म्य होने से यह कहना उचित ही है कि इनमें से एक के नाश से दूसरे का नाश हो जाता है और एक व्यापार नहीं करता तो दूसरा भी नहीं करता। सभी इन्द्रियाँ तभी तक अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त रहती हैं, जब तक कि मन या प्राण उन्हें उसके लिए प्रेरित करता। यह नहीं हो सकता कि मन किसी इन्द्रिय का उसके विषय में प्रेरण करे और प्राण का सहयोग न मिले तो वह इन्द्रिय अपने व्यापार में प्रवृत्त हो जाय।

रस अर्थात् पारद की चंचलता सभी पर विदित है, जैसे वह किञ्चित् उष्णता पाकर ही अपने स्थान से चलायमान होकर अन्यत्र धूता है, वैसे ही मन भी स्वभाव से ही चंचल है, वह कभी कहीं और कभी कहीं उड़ान भरता है। इसीलिए साधक को उस मन के निरोध का कर्तव्य रूप से उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी साधक तो सदा यही विश्वास रखता है—

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्या ।

स्वल्पस्पन्दो द्रव्य निष्ठो रसो नाहमचेतनः ॥

—संन्यासोपनिषद्

अर्थात्—चंचल मन और मन से संयुक्त जिह्वा से, द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन मैं नहीं हूँ।

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।

बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥२७॥

टीका—आदिनाथ कहते हैं कि हे पार्वति ! मूर्च्छित रस और प्राण रोगों का हरण करता है और मारा हुआ रस एवं ब्रह्मरन्ध में लय को प्राप्त हुआ प्राण मनुष्य को जीवन देता और खेचरत्व प्राप्त करता है ॥२७॥

उच्चाख्या—जैसे वनौषिधियों के योग से घोटकर पारद की चपलता नष्ट कर दी जाती है, तब उसकी मूर्च्छित संज्ञा होती है, वैसे ही कुम्भक के पश्चात् रेचक से निवृत्ति को प्राप्त हुआ प्राणवायु भी मूर्च्छित कहलाता है। इस प्रकार मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त हुआ पारद और प्राण सभी रोगों को दूर करने में समर्थ होता है।

पारद को भस्म कर लिया जाय तो वह मारा हुआ कहा जाता है और प्राणवायु का भी निरोध करके उसे सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध में पहुँचा दिया जाय तो वह भी मृत कहलाता है, वयोंकि इडा-पिंगला से विलग होकर सुषुम्ना में प्रवेश करते ही मनुष्य की अवस्था मरे हुए के समान हो जाती है, इसलिए यह प्राण की मृतावस्था मानी गई है। इस प्रकार मरा हुआ पारद और प्राण दोनों ही मनुष्य को दीर्घजीवन प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं।

‘बद्धः खेचरतां धत्ते’ का अभिप्राय यह है कि क्रियाविशेष से बद्ध किया हुआ पारा गर्भी प्राप्त होते ही आकाश की ओर गति करता है और भौंहों के मध्य विशेष रूप से धारण किया हुआ प्राणवायु भी साधक को आकाशगति प्राप्त कराता

है। इस प्रकार वद्ध प्राण प्रभाव से योगी आकाश में पक्षियों के समान उड़ने में समर्थ होता है।

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थरो भवेत् ।

बिंदुस्थैर्सात्सदा सत्त्वं पिङ्डस्थैर्यं प्रजायते ॥२८

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।

मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥२९

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापु मतान्तरे ।

मनः प्राणलये कश्चिदानन्ददः संप्रवर्तते ॥३०

टीका—मन के स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण की स्थिरता से बिन्दु स्थिर होता है। बिन्दु की स्थिरता से सदा सत्त्व रहता है और उससे शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण है, प्राण का स्वामी लय है और लय नाद से अधित है। यही मोक्ष कहलाता है, मतान्तर से ऐसा नहीं भी है। मन और प्रण का लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता है। ॥२८—३०॥

च्याख्या—मन के स्थिर होने पर ही प्राण स्थिर होता है, क्योंकि मन चंचल होगा तो प्राण भी चंचल रहेगा। मन की स्थिरता से स्थिर हुआ प्राण वीर्य को चलित नहीं होने देगा और वीर्य को चलित नहीं होता, शरीर में विद्यमान रूप है तो शरीर की शक्ति बनी रहती है शक्ति है तो शरीर में स्थिरता रहना स्वाभाविक है।

श्रोतादि पञ्च इन्द्रियों का स्वामी मन ही है क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। उस मन का स्वामी प्राण है, क्योंकि प्राण के सहयोग के बिना

मन की प्रवृत्ति भी निष्फल होती है। परन्तु प्राण का स्वामी है मन का लय हो जाना, जो कि नाद का अधित होता है। क्योंकि नाद ही ब्रह्म है, यथा 'नादो ज्योतिर्मयः शिवः' (नाद बिन्दु) अर्थात् 'नाद ही ज्योतिर्मनि शिव है।' इसलिए मन का नाद में लय होना मोक्षरूप कहा गया है।

परन्तु, उक्त मत से भिन्न मत के कुछेक विद्वान चित्त के लय होने को मोक्ष रूप नहीं मानते। उनके अनुसार चित्त का लय तो सुषुप्ति में भी हो जाता है। उनका यह मत प्रस्तुत प्रसङ्ग में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मन और प्राण के लय होने पर जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, उससे जीवन्मुक्ति की अवस्था रूप उपलब्धि का सुख अवश्य मिलता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने चित्त का प्राण के साथ नाद में लय हो जाना मोक्ष स्वरूप कहा है।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।

निश्चेष्टो निविकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥३१

उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।

स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२

टीका—श्वास-निश्वास-रहित, विषय के ग्रहण से उन्मुख चेष्टा-रहित और विकार-रहित योगियों का लय होता है। सर्व संकल्पों को उच्छिन्नता, अशेष चेष्टाओं से निवृत्ति, वाणी से न कहा जाने योग्य लय योगियों का होता है। ३१-३२।

च्याख्या—बाह्य वायु का भीतर पहुँचना श्वास और भीतर के वायु का बाहर निकलना निःश्वास होता है। जिसमें इनकी ओर इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण का अभाव हो जाय, तथा चेष्टा और विकार भी नष्ट हो जाय, इसे लय का होना समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि

हयेय वस्तु के आकार में अन्तःकरण की वृत्ति का हो जाना ही
लय है ।

लय के अन्य लक्षण में मन के कार्य रूप संकल्पों का नष्ट
होना, चेष्टित अर्थात् अंग-संचालन व्यापार का निवृत्त हो जाना
आदि का समावेश है । लय को वाणी से नहीं कहा जा सकता,
वरन् स्वयं ही अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है, ऐसे लय की
उपलब्धि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है ।

यत्र हृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रियसनातनी ।

सा शक्तिजीवभूतानां द्वे असक्षये लयं गते । ३३॥

लयो लय इति प्राहुः कीदशं लयलक्षणम् ।

अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥३४॥

टीका—जहाँ हृष्टि का लय होता है, वहाँ सनातन
भूत और इन्द्रिय नहीं रहते । जीवों की शक्ति रूप विद्या, अविद्या
दोनों ही अलक्ष्य में लय होती हैं । इस प्रकार लय कहा जाता
है, परन्तु लय का लक्षण क्या है? विषय की विस्मृति और
वासनाओं का पुनः न उठना ही लय है ॥३३—३४॥

द्व्याख्या—ब्रह्मरूप अन्तःकरण वृत्ति में मन का लय
होता है । जिसमें पृथिवी आदि पञ्च महाभूत और इन्द्रियाँ हों,
वह अविद्या और जीवों की शक्ति रूप विद्या इन दोनों का लय
अलक्ष्य ब्रह्म में ही होता है ।

विद्या और अविद्या का फल विपरीत है । केनोपनिषद्
में यम ने नचिकेता से कहा कि—

दूसमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्यं ति ज्ञाता ।
विद्या भीपिसनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः ॥

अर्थात्—विद्या, अविद्या के फल भिन्न होते हैं । हे नचि-
केता! तुम्हें अनेकों भोग अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके,
इससे मैं समझता हूँ कि तुम विद्या की ही कामना करते हो ।

इस प्रकार भिन्न फल वाली विद्या और अविद्या दोनों
का ही पूर्ण रूप से त्याग करके ब्रह्म में चित्त का रम जाना लय
है, वही श्रेष्ठ स्थिति है ।

फिर भी कुछ लोग लय के विषय में पूछ सकते हैं कि
उसका लक्षण क्या होता है? इसका समाधान ग्रन्थकार इस
प्रकार करते हैं कि शब्दादि सभी विषयों की और साथ ही हयेय
विषय की भी विस्मृति हो जाय वही लय का लक्षण है क्योंकि
लय का अर्थ ह आत्मसात् हो जाना और वासनाओं का पुनः
उत्थान न करना आत्मसात् का प्रत्यक्ष लक्षण है । 'यदातमस्तन्न
दिवा न रात्रिं सन्न च संचिव एव केवलः' (श्वेताश्वर) अर्थात्
'जब अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है तब दिन, रात्रि, सत्,
असत् का बोध नहीं रहता, उस समय केवल एक शिव ही शेष
रहता है' । यही अवस्था 'लय' समझनी चाहिए ।

शाम्भवी मुद्रा वरणं

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।

एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥३५॥

अंतलक्ष्यं वहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषवर्जिता ।

एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥३६॥

टीका—वेद, शास्त्र और पुराण सभी सामान्य गणिका
के समान और शांभवी मुद्रा ही कुल वधु के समान गोपनीय
है । अंतलक्ष्य और वटियर्लक्ष्य में निमेष और उन्मेष न हो,
ऐसी यह शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्र में छिपी रहती है ॥३५-३६॥

ठ्याख्या—शाम्भवी मुद्रा का वर्णन आरम्भ करते हुए प्रथम उसका महत्व प्रकट किया है कि यह मुद्रा परम गोपनीय है। कुलवधू के समान कहने से, यहाँ कुप्रबधु अर्थात् सद्गृहस्थ की पत्नी की गरिमा स्वीकार की है और वेदादि के सर्वं सुलभ होने के कारण उसे गणिका के समान बताकर शाम्भवी मुद्रा की श्रेष्ठता ही व्यक्त की जा रही है।

शरीर में जो मूलाधारादि षट्कक्र हैं, उनमें से जो अभीष्ट हो, उस चक्र में लक्ष्य बनाकर अन्तःकरण की वृत्ति और विषयों वाली हृष्टि जो निमेष-उन्मेष से रहित हो ऐसी यह मुद्रा ऋग्वेदादि और योग-दर्शनादि में छिपी है। इससे शंभु की प्रत्यक्षता प्राप्त होती है, इसलिए इसका नाम शाम्भवी मुद्रा हुआ।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते ।

दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्तपश्यन्तपि ॥

मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादादगुरोः ।

शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम् ॥३७

टीका—जब योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में लय करके निश्चल तारे वाले हृष्टि से शरीर के बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता, यह शाम्भवी मुद्रा गुरु के प्रसाद से प्राप्त होती है। इससे शून्य-अशून्य से भी विलक्षण शाम्भव रूप परम तत्व का स्फुरण होता है ॥३७॥

ठ्याख्या—इस श्लोक में शाम्भवी मुद्रा का स्वरूप बताया है। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जीवात्मा परमात्मा के अभेद रूप लक्ष्य में मन और प्राण का लय होने पर निश्चल हृष्टि खुली रह कर भी बाहर के विषयों को देख नहीं पाता। क्योंकि मन का लय होने पर इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण

चतुर्थ उपदेश]

१७३

नहीं कर सकतीं। इस प्रकार ब्रह्म में लय को प्राप्त हुए मन और प्राण जब इस अवस्था में पहुँच जाते हैं, तब शाम्भवी मुद्रा होती है।

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ।

भवेचिच्चत्तलयानांदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥३८

टीका—शाम्भवी और खेचरी मुद्राओं के द्वारा अवस्था और धाम के भेद से शून्य चित्त सुख स्वरूप चित्त के लय का आनन्द होता है ॥३८॥

ठ्याख्या--शाम्भवी और खेचरी दोनों ही मुद्रायें समान फल प्रदान करने वाली मानी गई हैं। इनमें से किस मुद्रा का अभ्यास किया जाय? यह साधक की अवस्था और देश काल को देख कर निश्चय करना चाहिए। अथवा इन दोनों मुद्राओं में देश-भेद यह है कि शाम्भवी मुद्रा में बाह्य हृष्टि होने से बहिःस्थिति और खेचरी मुद्रा में भौंहों के मध्य में हृष्टि रहने से वहीं स्थिति होती है। परन्तु इन दोनों से ही चिदानन्द रूप आत्मा में चित्त का जो लय होता है, उस परमानन्द की उपलब्धि होती है।

उन्मनी मुद्रा

तारे ज्योतिष संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ।

पूर्वयोगं मनो युं जन्मनीकारकः क्षणात् ॥३९

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ।

केचित्तर्केण मुहृष्टंति नैव जानन्ति तारकम् ॥४०

टीका—तारों को ज्योति में युक्त करके भौंहों को कुछ ऊपर की ओर करे और पूर्वोक्त योग में मन को लगा दे तो क्षण

भर में उन्मनीकारक अवस्था होती है। किसी आगम के जाल से और किसी निगम के फलों से जो मोहित रहते हैं, वे तारक को नहीं जान सकते ॥३८—४०॥

छ्याख्या—नेत्रों के तारों को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके प्रकाशमान ज्योति में योजित करे और भृकुटियाँ कुछ ऊपर की ओर उठाकर पूर्वोक्त अन्तलंक्ष्य और बहिर्घटि रूप योग में मन को लगा देना चाहिए। इससे उन्मनी अवस्था हो जाती है। यह उन्मनी अवस्था साधक को तारने वाली है, परन्तु आगम अर्थात् शास्त्रों और निगम अर्थात् वेदों में विभिन्न प्रकार की उपासनाओं और यज्ञों का वर्णन होने से उनमें विश्वास रखने वाले लोग योग का अभ्यास नहीं करते, वे संसार सागर से तारने वाली इस उन्मनी अवस्था का नहीं जान पाते।

अर्थोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
इच्छार्कार्वपि लीनतामुपनयन्निष्पंदभावेन यः ।
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देवोप्यमानं परं ।
तत्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

टीका—अर्द्ध उन्मीलित नयन, स्थिर मन, और नासिका के अग्रभाग में हृषि वाला योगी चन्द्र-सूर्य का लीन करता हुआ निस्पद भावसे अत्यन्त दैदीप्यमान, ज्योति स्वरूप अशेष, अखिल विश्व के बीज रूप परम तत्व के पद को जाता है। इस विषय में अधिक क्या कहा जाय? ॥४१॥

छ्याख्या—उन्मनी अवस्था में योगी के नेत्र आधे खुले आधे बन्द रहते हैं। उस समय वह स्थिर चित्त से नासिका के अग्रभाग में हृषि रखता है। उसका मन इस प्रकार लय को

प्राप्त हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती।

नासिका के अग्रभाग में जो स्वच्छ आकाश है, उसमें ज्ञान और हृषि दोनों सम्यक् प्रकार से लग जाय तो प्राणों का स्पन्दन भी रुका हुआ प्रतीत होता है और प्राण के संचार के उस अवरोध में कारण होती है शरीर मन और इन्द्रियों की निश्चलता। ऐसी स्थिति में अवस्थित हुआ योगी तत्व स्वरूप परम पद को प्राप्त होता है।

उस परम पद का वर्णन करना बहुत कठिन है, अधिक तो क्या अल्प कथन भी नहीं हो पाता। योगतत्वोपनिषद् में कहा है—

अनिवार्च्य पदं वक्तुं न शाक्यं तै सुरैरपि ।

स्वात्मप्रकाश रूप तत्क्षिण शास्त्रैषं प्रकाशते ॥

अर्थात्—उस अनिवार्च्य पद का वर्णन देवता भी नहीं कर सकते, तब शास्त्र ही उस स्वात्म प्रकाश रूप का वर्णन कैसे कर सकते हैं?

दिवा न पूजयेत्तिलं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।

सर्वदां पूजयेत्तिलं दिवारात्रिनिशोधतः ॥४२॥

टोक्टा—दिन में लिंग का पूजन न करे, रात्रि में भी नहीं करना चाहिए। दिन रात्रि के निशेव को करता हुआ सर्व काल में लिङ्ग-पूजन कर सकते हैं ॥४२॥

छ्याख्या—उन्मनी अवस्था में काल का कोई नियम नहीं रहता। दिन का अर्थ सूर्य और रात्रि का अर्थ चन्द्रमा, इन दोनों का संचार होने के समय लिंग-पूजन का निषेव है। तात्पर्य यह है कि पिंगला और इडा के स्वर-संचार काल में पूजन नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सूर्य-चन्द्र स्वर के संचार काल

में चित्त की स्थिरता नहीं रह पाती, क्योंकि उस समय प्राणवायु चलायमान रहता है, इसलिए चित्त भी चलायमान रहेगा।

दिन-रात्रि को छोड़कर अन्य सभी कालों में पूजन करने का निर्देश है। क्योंकि सूर्य-चन्द्र का निरोध होने पर प्राण सुषुम्ना में चला जाता है, तब मन की भी स्थिरता हो जाती है। इस श्लोक में पूजन शब्द का प्रयोग ध्यान के लिए है, क्योंकि योगी के लिए वाह्य पूजन अपेक्षित नहीं उसके लिए तो ध्यान ही पूजन है। इसलिए लिंग अर्थात् आत्मा के ध्यान का ही निर्देश समझना चाहिए।

खेचरी मुद्रा का स्थैर्य कथन

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
 तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥४३
 इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
 तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥४४
 सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ।
 संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥४५

टीका—बाँयी-दाँयी नड़ियों में स्थित प्राणवायु जहाँ जाता है, वहीं खेचरी मुद्रा स्थित होती है, इसमें संशय नहीं। इडा और पिङ्गला के मध्य का शून्य प्राणवायु का ग्रास करते, उसी शून्य में खेचरी मुद्रा होती है, यह कथन बार-बार सत्य ही है। सूर्य और चन्द्र के मध्य जो निराश्रय अन्तर है, उस व्योम चक्र में ठीक प्रकार स्थित होने से उस मुद्रा का नाम खेचरी है ॥४३—४५॥

च्याख्या—बाँयी नाड़ी इडा है, इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं और दाँयी नाड़ी पिंगला है, जो कि सूर्य नाड़ी भी कहलानी है। उनमें स्थित प्राणवायु निकलकर जहाँ पहुँचता है वहीं खेचरी मुद्रा का होना कहा है। इडा-पिंगला के मध्य में शून्य अर्थात् आकाश माना जाता है, उनमें प्राण का स्थिर होना ही प्राण का ग्रास कहलाता है। उसी शून्य रूप आकाश में खेचरी का स्थित होना निश्चित है। इडा-पिंगला के मध्य में जो आश्रय रहित अन्तर है, वहाँ आकाशों का समुदाय रूप चक्र विद्यमान रहता है, क्योंकि भौंहों के मध्य में सभी आकाश मिलते हैं। उसी आकाश में ठीक प्रकार से स्थित होना ही खेचरी मुद्रा है। ‘एवं सहजानन्दे यदा मनोलीयते तदा शास्भवा भवति, तामेव खेचरोमाहुः (मण्डलब्राह्मणोर्निषत्) अर्थात् ‘जब मन ऐसे सहजानन्द में लीन हो जाता है तब जीव को शान्ति मिलती है, यह शास्भवी है जिसे खेचरी कहते हैं।

सोमद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ।

पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥४६॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।

अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥४७॥

टीका—जिससे चन्द्रमा से अमृत की धारा प्रकट होती है, वह खेचरी मुद्रा साक्षात् शिव-वल्लभा है। अतुल और दिव्य सुषुम्ना को पश्चिम मुख में जिहवा से पूर्ण करना चाहिए और यदि पूर्व मुख में भी पूर्ण करे तो निश्चय ही खेचरी मुद्रा होती है। इस प्रकार अभ्यास से सिद्ध हुई इस मुद्रा से उन्मनी अवस्था उत्तर्ण हो जाती है ॥४६—४७॥

ब्याख्या—खेचरी मुद्रा शिवजी को अत्यन्त प्रिय है उसमें चन्द्रामृत की धारा उत्पन्न हो जाती है। इसलिए इसका अभ्यास साधक को दीर्घजीवी बनाता है।

सुषुम्ना नाड़ी के दो मुख होते हैं—पश्चिम और पूर्व। इन दोनों मुखों को प्राण से पूरित करे। इसका ठीक प्रकार से अभ्यास करने पर उन्मनी अवस्था होती है। परन्तु, सुषुम्ना के केवल पश्चिम मुख को ही पूरित करने और पूर्व मुख का पूरित न करने से जो खेचरी मुद्रा होती है, वह मूँह अवस्था को उत्पन्न करने वाली है।

अथ वोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।

ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥४८॥

अभ्यत्सेत्खेचरी तावद्यावत्स्योगनिद्रितः ।

संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥४९॥

निरालंबं मनःकृत्वा न किञ्चिदपि चित्येत् ।

स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥५०॥

टीका—भौंहों के मध्य में शिव का स्थान है, वहाँ मन का विलय होता है। उस पद को काल की विद्यमानता से रहित तुर्य पद जानना चाहिए। खेचरी का तब तक अभ्यास करे, जब तक योगी योग निद्रित हो और जब योग निद्रा की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। जो योगी मन को आश्रय-रहित करके कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वह बाह्याभ्यन्तर के आकाश में घट के समान टिक जाता है, यह निश्चय है। ४८—५०॥

ब्याख्या—दोनों भृकुटियों के बीच में शिव रूप आत्मा का स्थान माना गया है। वहाँ पहुँची हुई मन की वृत्ति शिवाकार हो जाती है। वह पद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुम्नि के पश्चात् का अर्थात् चौथा तुरीय पद है, जहाँ काल तो रह ही नहीं सकता।

योग-निद्रा में सभी वृत्तियों का निरोध होता है, यह अवस्था बहुत समय के अभ्यास से सिद्ध होती है। इसको प्राप्ति के लिए खेचरी का अभ्यास करना उचित है। इसके द्वारा मृत्यु भी विजित हो जाती है। इसलिए खेचरी का अभ्यास करता हुआ योगी मन को आश्रय-रहित करदे अर्थात् संयमित करे और अन्य किसी प्रकार का चिन्तन न करे। तब जैसे खाली घट बाहर-भीतर आकाश से पूर्ण होता है, वैसे ही खेचरी मुद्रा होने पर आलंबन छोड़े हुए योगी ब्रह्म में स्थित होता है।

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ।

स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥५१॥

एव मध्यसमानस्य वायुमार्गं दिवनिशम् ।

अभ्यासाज्जीर्यते वायुमस्ततैव लीयते ॥५२॥

अमृतैः प्लावयेऽदेहमापादतलमस्तकम् ।

सिद्धचत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥५३॥

टोका—जैसे बाह्य वायु लीन होता है, वैसे मध्य का भी लीन हो जाता है, इसमें संशय नहीं तथा मन के सहित प्राण-वायु अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होता है। इस प्रकार से वायु मार्ग में दिन-रात्रि अभ्यास करते हुए, जिसमें वायु लीन होता है। उसी में मन का भी लय हो जाता है। तलुओं से मस्तक पर्यन्त शरीर को चन्द्रामृत से सिंचित करते ही दृष्टि



योगी को महावल, पराक्रम और महान् काया की सिद्धि होती है वही उसका अमृत से स्नान करना है ॥५१ - ५३॥

ठ्याख्या—खेचरी मुद्रा के अभ्यास काल में बाह्य वायु तो लीन होता ही है, क्योंकि उसका भीतर प्रवृत्त होना असम्भव है। इसी प्रकार शरीर के मध्य का वायु इसलिए लीन होता है कि उसकी बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु मन के सहित वह वायु अपनी स्थिरता के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में जाकर स्थैर्य को प्राप्त होता है। प्राणवायु के मार्ग सुषुम्ना में सदा अभ्यास करने से वह वायु जारी हो जाता है। उसका जीर्ण ही लय होना है। प्राणवायु लीन होता है, वहीं मन भी लीन हो जाता है। ऐसा होने पर ही चंद्रमा से स्वित होते हुए अमृत से समूचे शरीर का पोषण होता है, जिससे बल-पराक्रम बढ़ता और साधक दीर्घजीवी हो जाता है।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसस्थ्यगाम् ।

मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥५४॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।

सर्वं च खसयां कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥५५॥

टीका:—मन को शक्ति के मध्य में और शक्ति को मन के मध्य में करके तथा मन से मन को देख परमपद का धारण करे। ब्रह्म के मध्य आत्मा की और आत्मा के मध्य ब्रह्म को करके, सत को ब्रह्ममय करता हुआ किञ्चित् भी चिन्ता न करे ॥५४—५५॥

ठ्याख्या—मन को कुण्डलिनी शक्ति में लगा कर उस शक्ति को मन में योजित करे। अर्थात् मन और शक्ति का एक य करके मनन पूर्वक मन का अवलोकन करे, यह देख कि मन

किधर जा रहा है? यदि भटकता है तो उसे वश में करके परम पद को धारणा करे।

‘ख मध्ये कुरु चात्म नं से ‘आकाश के समान व्यापक ज्ञम में आत्मा को योजित करने का निर्देश है। अथवा आत्मा में ब्रह्म को संयुक्त करता हुआ सम्पूर्ण चराचर जगत् को ब्रह्ममय माने और ब्रह्म का ही चिन्तन करे, किसी अन्य का चिन्तन न करे। योगकुण्डल्युपनिषद् का भी ऐसा ही मत है—

अपर सन्त्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम् ।

शक्तिमध्ये मनःकृत्वा मनः शक्तेऽच मध्यगम् ॥

ननसा मन आलोक्य मत्यजेत्परमं पदम् ।

मन एव हि विन्दुश्च उत्पत्ति स्थिति कारणम् ॥

अर्थात्—यदि अपने हित की इच्छा हो तो अन्य सब मिथ्या विषयों को त्याग दे और शक्ति में प्रवेश करके उसी में स्थित हो जाय। मन के द्वारा मन को देखकर और समझ कर उसका त्याग करना ही परमपद है। क्योंकि उत्पत्ति और स्थिति का प्रधान बिन्दु मन ही है।

अन्तः शून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवांबरे ।

अन्तःपूर्णो बहिर्पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥५६॥

बाह्यचिता न कर्तव्या तथैवांतरचितनम् ।

सर्वचितां परिज्यज्य न किञ्चिदपि चितयेत् ॥५७॥

टीका—भीतर भी शून्यहो, बाहर भी शून्य जसेकि जल से रहित धटवाहर भीतर से शून्य होता मेहरन्तु पमुद्र मेंडवा हुआ धट जैसे बाहर भीतर जल से परिपूर्ण रहता है, वैसेही समाधि में योगी बाहर-भीतर दोनों ही ओर ब्रह्म से पूर्ण होता है। उसे बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और न आन्तरिक मन से

कल्पित पदार्थों का ही चिन्तन करे । सभी प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर, कुछ भी चिन्तन न करे ॥५६—५७॥

च्याख्या—इन श्लोकों में समाधि में अवस्थत योगी के अपने स्वरूप में स्थित होने का वर्णन करते हैं कि ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के न होने से अन्य की प्रतीति न हो और अन्य के न देखने से बाहर से भी, आकाश में स्थित घट के बाहर-भीतर जल से शून्य होने के समान योगी भी शून्य हो । इसी प्रकार समुद्र में डूबा हुआ कलश जैसे बाहर और भीतर सर्वत्र जल से परिपूर्ण रहता है, वैसे ही हृदय में ब्रह्माकार वृत्ति से और बाहर ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के अभाव से योगी को पूर्ण रहना चाहिए । इस कथन का अभिप्राय यही है कि योगी अपने भीतर तो ब्रह्ममय रहे ही, बाहर भी सर्वत्र ब्रह्ममय ही देखे और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी न देखे न सुने ।

उसे बाह्य विषयों या पदार्थों का चिन्तन छोड़ देना चाहिए । जब आत्मज्ञान हो जाता है औन्नचारिक बाह्य पदार्थों को आवश्यकता नहीं रहती । माला, चन्दन, धूप, दीप आदि सब पूजन सामग्री भी उसके लिए निरर्थक रहती हैं । इसीलिए बाह्य पदार्थों का चिन्तन न करे और अन्तःकरण में मन से उत्पन्न विषयों या पदार्थों का चिन्तन भी छोड़ दे तथा सभी प्रकार के चिन्तनों को छोड़कर एक मात्र आत्मा का अर्थात् ब्रह्म का ही चिन्तन करे । ब्रह्म विद्योपनिषद् में कहा है—

तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्धं इवास्थितः ।

पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥

अर्थात्—जैसे तिलों में तैल और पुष्पों में गन्ध रहता है । वैसे ही पुरुष के शरीर में बाहर-भीतर वही ब्रह्म विद्यमान रहता है ।

इस प्रकार श्लोक में साधक के लिए सर्वत्र ब्रह्ममय मानने और ब्रह्ममय देखने का उपदेश निहित है ।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं

सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥

सङ्कल्पमात्रमतिसुत्सृज निविकल्प-

माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥५८

टीका—यह सम्पूर्ण जगत् संकल्प मात्र की कल्पना रूप है और यह मन का विलास भी संकल्प की कल्पना मात्र ही है । इसलिए है राम ! संकल्प मात्र में जो मति है उसे त्याग कर और निविकल्प के आश्रित होकर निश्चय हीं शान्ति को प्राप्त होओ ॥५८॥

च्याख्या—इस श्लोक में महर्षि वसिष्ठ द्वारा श्री राम को दिया हुआ उपदेश है कि यह सम्पूर्ण हश्यमान विश्व प्रपञ्च मन का विलास मात्र है और इसकी उत्पत्ति संकल्प की कल्पना से ही हुई है । अथवा यह जगत् मानसिक व्यापार रूप संकल्प की रचना है और आशा उत्पन्न करने वाले भवन, वाटिका, ऐश्वर्यादि के रूप में जो विषयों की कल्पना का विलास है, वह भी संकल्प से ही उत्पन्न होता है । इसलिए बाह्याभ्यन्तर असत्य प्रपञ्च में सत्यत्व बुद्धि का त्याग ही श्रेयस्कर होता है । मैत्रेयुपनिषत् में भी कहा है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।

यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्प्रयत्नातनम् ॥

अर्थात्—चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक उसका शोधन करे । ‘जैसा जिसका चित्त, वैसी उसकी गति’ यह एक सनातन और गुह्य सिद्धान्त है ।

कपूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिलै यथा ।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वै विलोयते ॥५८॥
ज्ञेयं सर्वं प्रतीत च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥६०॥

टीका—जैसे कपूर अग्नि में सैधव जल में लीन होता है, वैसे ही तत्त्व में संयुक्त हुआ मन भी विलीन हो जाता है। ज्ञेय और ज्ञान मन ही कहलाता है, क्योंकि ज्ञेय और ज्ञान के मन सहि नष्ट हो जाने पर दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहता ॥५८—६०॥

व्याख्या—कपूर को अग्नि में डाल दें तो वह अग्नि रूप ही हो जाता है, और नमक को जल मिला दें तो नमक भी आपा खोकर जल रूप हो जाता है। वैसे ही मन भी आत्मा में संयुक्त होने पर आत्माकार हो जाता है। ज्ञान के योग्य और ज्ञान यह मन की कल्पना मात्र हैं। इसलिए इन्हें भी मन ही कहते हैं। क्योंकि मन नहीं तो ज्ञेय और ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं रहता। इसीलिये ज्ञेय और ज्ञान के टिके रहने का कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता।

मनोदृश्यमि सर्वं यत्किञ्चित्सच्चरुचारम् ।
नसो हयुन्मनोभावाद्वैतं नंवोपलभ्यते ॥६१॥
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमविविष्यते ॥६२॥
एवं नानाविधोपायाः सम्यकस्वानुभवान्विताः ॥
समःधितार्गाः कणिता; पूर्वाचार्यर्महात्मभिः ॥६३॥

टीका—यह हृश्यमान सम्पूर्ण चराचर जगत मन से ही उत्पन्न है। मन के उक्त उन्मनी भाव में होने पर द्वैत की प्रतीति नहीं रहती ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलय को प्राप्त होता है और जब मन का विलय जाता है तब कैवल्य ही शेष रहता है। इस प्रकार समाधि-मार्ग के अनेक विधि के उपाय हैं, जो भली भाँति से अपने अनुभव में आने पर पूर्व आचार्यों और महात्माओं ने कहे हैं ॥६१—६३॥

व्याख्या—यह स्थावर जंगम जीवों के सहित जो विश्व प्रपञ्च दिखाई देता है वह सब मन की कल्पना से ही उत्पन्न हुआ है और जब मन उस प्रपञ्च और उसके विषयों से हट जाता है, तब उन्मनी अवस्था होती है और उस समय एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही शेष रह जाता है अर्थात् जीवात्मा का ऐक्य स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ।
बन्धाय विषयावत् मुक्तयैः निर्विषय स्मृतम् ॥

—शाटचायनीयोपनिषत् १

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बन्धन मोक्ष का कारण है जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।

समाधि में मन विलय को प्राप्त हो जाता है जिसके बहुत-से उपाय हैं। अनेक ऋषि, मुनि, महात्माओं ने इन विधियों को अपने-अपने अनुभव के आधार पर कहा है।

सुषुम्नायै कुन्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।

मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥६४॥

अशक्यतत्वबोधाना मूढानामपि संमतम् ।

प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥६५॥

श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयं प्रकाराः कथिता जयति ।
नादानुसन्धानमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥६६

टीका—सुषुम्ना नाड़ी, कुण्डलिनी और चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाले अमृत तथा मनोन्मनी अवस्था को नमस्कार है, जो चिद्रूप महाशक्ति है। जिसका तत्त्वबोधं अशक्य मूढ़ों के लिए भी सम्मत है, उस नाद की उपासना गोरक्षनाथ ने कही है। श्री आदिनाथ ने लय के सवा करोड़ उपाय बताये हैं, उन सब में मैं तो एक मात्र नादानुसन्धान को ही मुख्यतम मानता हूँ ॥६४—६६॥

छायाख्या—षट्चक्र भेदन में सुम्पुना का प्रमुख कार्य रहता है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति उसी में प्रविष्ट होकर चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मस्थं त्रिपुरां को प्राप्त होती है। वही चन्द्रामृत का स्राव होता है तथा मनोन्मनी अवस्था की भी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार षट्चक्र भेदन और शिवशक्ति के मिलन में प्रमुख साधन रूप सुषुम्ना आदि के प्रति श्रद्धा-भाव रहने पर ही साधक को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। चित्तशक्ति चेतन आत्मा रूप है, इसलिए चेतन के सम्पादक सुषुम्ना आदि को और चित्तशक्ति को भी साधक नमस्कार करता है। श्लोक में ‘नमस्तुभ्य’ कहने का सम्बन्ध सभी से बनता है।

मूढ़ पुरुषों के लिए तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त कठिन होती है, परन्तु गोरक्षनाथ द्वारा कहा हुआ नादानुसन्धान का यह उपाय उनके लिए भी हितकर है। आदिनाथ जी ने चित्त के लय की सवा करोड़ विधियाँ कही हैं, परन्तु उन सब में अनाहत इवनि का सेवन ही सर्वथेष्ठ है।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाया शांभवीम् ।

शृण्यादृक्षिणे कर्णे तादमंतःस्थमेकधीः ॥६७

श्वणपुटमयनपुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।

शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥६८
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽसि च ।

निष्पतिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥६९

टीका—मुक्तासन में स्थित हुआ योगी शाम्भवी मुद्रा का सन्धान करके एकाग्र बुद्धि के द्वारा दक्षिण कर्ण में नाद का श्वरण करे। कान, नेत्र और नासिका के दोनों छिद्र तथा मुख का निरोध करे, इससे मल-रहित सुषुम्ना-मार्ग से स्फुट, अमल नाद सुनाई देता है। चार अवस्थाएँ आरम्भ, घट, परिचय और चित्तवृत्ति के निरोध रूप योगों में होती है ॥६७—६९॥

छायाख्या—यहाँ शाम्भवी मुद्रा के द्वारा नादानुसन्धान वर्णन हुआ है। मुक्तासन लगाकर बैठा हुआ योगी आन्तरिक्ष लक्ष्य और वाट्य हृष्ट आदि के रूप में बताई गई शाम्भवी मुद्रा को करता हुआ दर्शये कान में नाद का श्वरण करे। नादविन्दूपनिषद में कहा है—

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाट्यमावृणुते इवनिम् ।

पद्माद्विपक्षखिलं जित्वा तुर्यपदं ब्रजेत् ॥

अर्थात्—इस प्रकार किया गया नाद का अभ्यास बाहर की इवानियों को ढक लेता और अकार, मकार रूप दोनों पक्षी को जीतकर प्रणय पर विजय प्राप्त करने से तुर्यपद की प्राप्ति हो जाती है।

नाद के अनुसन्धान-कार्य में कान, नेत्र, घ्राण, और मुख को रोककर इन्द्रियों का निरोध करे, इससे सुषुम्ना मार्ग में

प्रत्यक्ष और स्पष्ट नाद सुनाई देता है। उस नाद की आरम्भ अवस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था के भेद से चार अवस्थाएँ होती हैं उन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जाता है—

नाद की आरम्भावस्था

ब्रह्मग्रन्थेभंदभेदो द्व्यानन्दः शून्यसंभवः ।

विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रुयते ध्वनिः ॥७०॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधत्वरोगवान् ।

संपूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान्भवेत् ॥७१॥

टीका—ब्रह्म ग्रन्थि के भेदन से आनन्द का शून्य में उत्पादन होता है और शरीर में अद्भुत क्वणक् अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। तब दिव्य देह होकर उसमें दिव्य गन्ध और आरोग्य होता है तथा शून्य रूप सम्पूर्ण हृदय योगयुक्त हो जाता है ॥७०—७१॥

च्याख्या—नाद की चार अवस्थाओं प्रथम आरम्भावस्था का वर्णन इस प्रकार है कि प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब आनन्द को उत्पन्न करने वाला क्वणक् रूप अनाहत नाद उत्पन्न हो जाता है, उससे योगी का शरीर दिव्य गन्ध से परिपूर्ण, रोगरहित एवं दिव्य हो जाता है।

नाद की घाटवस्था

द्वितीयायां घटोकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।

द्वासनो भवेद्योगी ज्ञानो देवसमस्तदा ॥७२॥

विष्णु ग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसुचकः ।

अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥७३॥

टीका—दूसरी अवस्था में प्राणवायु मध्य नाड़ी में प्रवेश करता है तब द्वड़ आसन लगाकर बैठा हुआ वह योगी देवता के समान हो जाता है। फिर विष्णुग्रन्थि का भेदन होने पर परमानन्द का सूचन करने वाले अति शून्य में विमर्द और भेरी का शब्द सुनाई देता है ॥७२—७३॥

च्याख्या—नाद की दूसरी अवस्था घटावस्था है, जिसमें प्राण अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को मिलाकर कण्ठदेश में स्थित मध्य चक्र में जा पहुँचता है। उससे योगी रूप-लावण्य युक्त एवं निरोग रहता हुआ सम्पूर्ण रूप से देवताओं के समान हो जाता है। फिर कण्ठ में विद्यमान विष्णुग्रन्थि का प्राणायाम के अभ्यास से भेदन कर लेने पर परमानन्द प्राप्ति के सूचक विमर्द नामक वाद्य विशेष अथवा भेरी का शब्द अति-शून्य रूप कण्ठदेश में सुनाई देने लगता है। वह शब्द अत्यन्त आनन्द युक्त होता है, जिसमें योगी नितान्त रूप से रम जाता है।

नाद की परिचयावस्था

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।

महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥७४॥

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसंभवः ।

दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविर्जितः ॥७५॥

पुद्रग्रन्थि यदा भित्त्वा शर्वसीठगतोऽनिलः ॥७६॥

टीका—तीसरी अवस्था में मर्दल की ध्वनि को जाने और महाशून्य में वायु का संयम करे तो सर्वसिद्धि प्राप्त होती है। चित्त के आनन्द को जीतने पर सहज आनन्द होता है, तब वह दुःख, जरा, रोग, क्षुवा निद्रा आदि दोषों से रहित हो

जाता है तथा रुद्रग्रन्थि का जब भेदन होता है, तब वायु शर्व-पीठ को प्राप्त होता है ॥७४—७६॥

ठ्याख्या—परिचयावस्था में मर्दल संज्ञक वायु विशेष की छवनि सुनाई देती है। उस समय भौंहों के मध्य आकाश स्वरूप एवं अणिमादि सिद्धियों के आश्रय स्थान महाशून्य में प्राणवायु जा पहुँचता है। इससे साधक अणिमादि आठों सिद्धियाँ और सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं तथा आज्ञाचक्र में विद्यमान रुद्रग्रन्थि का भेदन करता हुआ प्राण रुद्र के धाम रूप भौंहों के मध्य में स्थित हो जाता है।

नाद की निष्पत्ति अवस्था

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।

एकोभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।

सृष्टिसंहारकर्तासो योगीश्वरसमो भवेत् ॥७७॥

टीका—नाद की चौथी अवस्था निष्पत्ति अवस्था है। उसमें प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है तब वैणु का शब्द करती हुई तथा क्वणत् रूप में वीणा का शब्द होता है। उस समय चित्त एकाग्रता होने पर राजयोग सिद्ध हो जाता है और योगी सृष्टि-संहार करने में भी समर्थ ईश्वर के समान हो जाता है ॥७७॥

ठ्याख्या—चतुर्थ अस्वस्था निष्पत्ति में जब प्राण ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त हो जाता है, तब साधक को वंशी और वीणा के शब्द सुनाई देने लगते हैं और चित्त में एकाग्रता हो जाने से राजयोग की प्राप्ति होती है, क्योंकि चित्त की एकाग्रता ही राजयोग है। ऐसा साधक ईश्वर के समान शक्तिवान् और ऐश्वर्यवान् और सब प्रकार समर्थ हो जाता है।

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडित सुखम् ।

लयाद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥७८॥

राजयोगमलानन्तः केवलं हठकर्मणः ।

एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥७९॥

टीका—और कुछ ही या न हो अर्थात् मुक्ति हो या न हो, नाद के अनुसन्धान में अखण्ड सुख है और लय से उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोग से ही प्राप्त होता है। राजयोग को न जानकर केवल हठयोग की क्रिया में ही लगे रहने वाले अभ्यासी के परिश्रम को मैं निष्फल समझता हूँ ॥७८—७९॥

ठ्याख्या—पहले भी इस पर प्रकाश डाल चुके हैं कि किसी भी अवस्था में नादानुसन्धान करने में जो अखण्ड सुख होता है, उसकी प्राप्ति राजयोग से ही है और राजयोग के बिना हठयोग का प्रयास वर्थं रहता है।

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भूध्यान मम संभवम् ।

राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥

सद्यः प्रत्ययसंधायो जायते नादजो लयः ॥८०॥

टोका—उन्मनी अवस्था और राजयोग के पद को शीघ्र प्राप्ति के लिए भौंहों के मध्य में ध्यान ही मेरे मत में अल्प बुद्धि वालों के लिए सुखोपाय है तथा नाद से उत्पन्न चित्त का लय शीघ्र ही प्रत्यय का सन्धान करने वाला होता है ॥८०॥।

ठ्याख्या—भौंहों के मध्य में ध्यान करने से नाद उत्पन्न होकर चित्त का लय हो जाता है, जिससे राजयोग का पद और उन्मनी अवस्था की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। अल्प बुद्धि वाले साधकों के लिए यह उपाय अत्यन्त ही सरल है।

नादानुसंधानसमाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥
आनन्दमेकं वचसामगम्यं
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥८१॥
कणौं पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः
तत्रचित्तं स्थिरोकुर्याद्यतिस्थरपदं व्रजेत् ॥८२॥

टीका—नाद के अनुसन्धान से जो समाधि होती है, उसके कर्ता योगीश्वरों के हृदय में बढ़ता हुआ एक आनन्द होता है, जो कि वाणी से अगम्य है। उसे एक मात्र श्री गुरुनाथ ही जानते हैं। हाथों से कानों को ढककर जो मुनि ध्यान का श्वरण करता है, वह वहाँ चित्त को स्थिर करके, स्थिरपद को प्राप्त हो जाता है ॥८१—८२॥

ठ्याख्या—अनाहत ध्वनि रूप नाद के अनुसन्धान से चित्त की एकाग्रता रूप समाधि के करने वाले योगीश्वरों को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह श्रीगुरु ही जान सकते हैं और उनकी कृपा से साधक भी उसे जान सकता है। वह ध्वनि अंगूठों के द्वारा कानों को ढककर दाँये कान में सुनी जाती है। उससे चित्त एकाग्र हो जाता और योगी स्थिर अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है।

विक्षेपजय से सुख प्राप्ति कथन
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥८३॥

टीका—अभ्यास किया हुआ यह नाद बाह्य शब्द का आवरण करता है, जिससे योगी पक्षभर में सब विक्षेपों को जीतकर सुखी हो जाता है ॥८३॥

ठ्याख्या—अभ्यास से सिद्ध हुए इस नाद के द्वारा बाहरी शब्द भीतर नहीं जा पाता, इससे सभी विक्षेप नष्ट हो जाते हैं।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥८४॥

नाना नाद वर्णन

आदौ जलधिजीमूतभेरीज्ञर्ज्ञपसंभवाः ।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥८५
अंते तु किंकिणोवंशवोणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नाना श्रूयंते: देहमध्यगा ॥८६

टीका—प्रथम अभ्यास में साधक को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं और फिर अभ्यास बढ़ते जाने पर सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुनने में आ जाते हैं। प्रारम्भ में समुद्र, फिर मेघ, फिर भेरी, ज्ञर्ज्ञरी के और मध्य में मर्दल, शंख तथा घण्टा के शब्द सुने जाते हैं। अन्त में किंकिणी, वंशी, वीणा और भौंरों के गुंजन आदि अनेक प्रकार के नाद शरीर में सुनाई देते हैं ॥८४—८६॥

ठ्याख्या—नादानुसन्धान का अभ्यास करने वाले साधक को पहले अनेक प्रकार के शब्दों के श्वरण का अनुभव होता है और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द सुनने की क्षमता आ जाती है। इस प्रकार समुद्र, मेघ, भेरी आदि के श्वरण का अभ्यास बढ़ने पर अन्त में वंशी, वीणा, भ्रमर-गुंजनादि सुनाई देने लगता है।

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभैर्यादिके ध्वनौ ।
 तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥८७
 घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्म सूक्ष्मेमुत्सृज्य वा घने ।
 रमसाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥८८
 यत्र कुवापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
 तत्रैव सुस्थिरोभ्य तेन सार्धा विलीयते ॥८९
 मकरंदं पिबन्भृज्ञो गंधं नापेक्षते यथा ।
 नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते ॥९०

टीका—मेघ, भेरी आदि जैसी महती ध्वनि सुनने पर भी वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म भी नाद का चिन्तन करना चाहिए। महाननाद को छोड़ कर सूक्ष्म नाद में और सूक्ष्मनाद को छोड़ कर महान् नाद में रमण करते हुए चित्त को अन्यत्र न जाने दे। जिस किसी भी नाद में पहले मन लगे, वहाँ ही स्थिर करने से उसका लय हो जाता है। जैसे मकरन्द का पान करता हुआ भौंरा पुष्प की गन्ध से अनपेक्ष रहता है, वैसे ही नादासक्त चित्त भी विषयों की आकांक्षा नहीं करता ॥८७—९०॥

ठ्याख्या—जब मेघ-गर्जनादि जैसी महान् ध्वनि सुनाई देने लगे, तब सूक्ष्माति सूक्ष्म ध्वनि के सुनने का अभ्यास करे और जब वह भी हड़ हो जाय तब सूक्ष्मनाद को छोड़कर महान् नाद के और महान् नाद को छोड़ कर सूक्ष्मनाद के श्वरण का अभ्यास करे। इस प्रकार विभिन्न नादों को सुनते-सुनते जिस नाद में मन लगे, उसी में चित्त को लगा ले और फिर किसी अन्य नाद में चित्त न लगावे तो चित्त का लय उसी नाद में हो

जाता है और फिर वह अन्यत्र किसी विषय की ओर आकर्षित नहीं होता।

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
 नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥९१

मन का चापल्य नाश

बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम् ।
 प्रयाति सुतरां स्थर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥९२
 सर्वचित्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
 नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥९३

टीका—विषय रूपी उद्यान में मदोन्मत्त गजेन्द्र के समान विचरण करते हुए मन को वश करने में नाद रूप तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ हो सकता है। नाद के बन्धन में बँधा हुआ मन अपनी चपलता का भले प्रकार से त्याग करके पर कटे पक्षी के समान अत्यन्त निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। सब चिन्ताओं को छोड़ कर सावधान चित्त से जो योगी योग साम्राज्य को इच्छा करता है उसे नाद का अनुसन्धान करना चाहिए ॥९१—९३॥

ठ्याख्या—शब्दादि विषयों के महान उद्यान में मद से उन्मत्त हुआ जो मन हाथी के समान स्वच्छन्द विचरण करता है, उसका वश में आना बहुत कठिन है। परन्तु नादरूपी अंकुश द्वारा उसे वश में किया जा सकता है। फिर वह मन विषयों की ओर न दौड़ कर स्थिर हो जाता है। इसलिए योग रूपी साम्राज्य की आकांक्षा करने वाले साधक को नाद के अनुसन्धान में तत्पर होना चाहिए।

नादोंतरङ्गसारङ्गबंधने वागुरांघते ।
 अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥६४
 अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।
 नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥६५
 बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ।
 मनः पादमाण्नोति निरालंबाख्येष्टनम् ॥६६

टीका—मन रूप अन्तरङ्ग मृग के बन्धन में नाद वागुरा के समान है तथा नाद ही अन्तरङ्ग मृग के वध में व्याध के समान होता है । यमी का जो अन्तरङ्ग मन रूप अश्व हैं, उसके परिघ में अवरोधक नाद ही है । इसलिए योगियों को नाद की ही नित्य वृद्धि करनी चाहिए । नाद रूप गन्धक के जारण से बँधा हुआ मन रूप पारद अपनी विमुक्त होकर आकाश गमन में समर्थ होता है ॥६४—६६॥

छात्रवच्चया—यहाँ मन को मृग की और नाद को जाल की उपमा दी गई है । जैसे मृग के बन्धन में जाल का उपयोग है, वैसे ही मन के बन्धन में नाद का उपयोग व्यक्त किया गया है । जैसे व्याध मृग को मार सकता है, वैसे ही नाद मन को मारने अथवा उसे निश्चल करने में समर्थ होता है ।

यमी का अर्थ है ‘यमों’ का पालन करने वाला साधक । उसके भीतर जो मन है, वह अश्व के समान तथा नाद परिघ के समान है । इस प्रकार नाद की समर्थता व्यक्त की गई और योगाभ्यासी को नाद की सिद्धि का उपदेश दिया गया है । क्योंकि वागुरा अर्थात् जाल रूप नाद ही मन रूप मृग की चंचलता दूर करने में अवरोधक सिद्ध हो सकता है ।

गन्धक-जारण के संयोग से चंचलता हरण होने से पारद गुटिका रूप हो जाता है, वैसे ही नाद के संयोग से मन विषयाकार परिणाम रूप चंचलता से हटकर स्थैर्य रूप ब्रह्माकार वृत्ति के प्रवाह को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार नाद की सिद्धि होने पर मन चंचल्य को त्याग कर निरालम्ब संज्ञक आकाश रूप अपरिच्छिन्न ब्रह्मपद में गमन करता है । कुछ विद्वानों के मत में इलोक में साधक को धरती से उठ कर आश्रय-रहित आकाश में गमन करने की सामर्थ्य प्राप्ति का फल-कथन हुआ है । परन्तु कुछ भी अर्थ करें, उपलब्धि यही है कि नाद में बँधा हुआ मन ब्रह्माकार वृत्ति को प्राप्त होता है ।

नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरङ्गभुजङ्गमः ।

विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥६७

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।
 नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥६८

घटादिनादसक्तस्तव्यांतः करणहरिणस्य ।

प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥६९

टीका—नाद के श्रवण से अन्तरङ्ग भुजंग शीघ्र ही सब कुछ भूलकर एकाग्र हो जाता और फिर कहीं नहीं दौड़ता । जैसे काष्ठ में प्रवृत्त हुई अग्नि काष्ठ के सहित ही शमन होती है, वैसे ही नाद में प्रवृत्त हुआ चित्त नाद के सहित लीन होता है । घटा आदि के शब्द में आसक्त और स्तब्ध हुए अन्तःकरण रूपी हरिण पर प्रहार करना तभी श्रेष्ठ है, जबकि शूर-सन्धान करने में प्रवीणता हो ॥६७—६९॥

घ्याख्या—यहाँ मन को सर्प की उपमा देते हुए कहा है कि मन एकाग्र होने पर, विषयों की ओर नहीं दौड़ता। परन्तु वह एकाग्रता नाद में प्रवृत्त होने पर ही हो सकती है। इसलिए साधक को नादानुसन्धान में प्रवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ समाधि के एक रूप का वर्णन किया है। ‘वितर्क विचारानन्दा स्मितानुरूपागमात् सम्प्रज्ञातः’ (योग दर्शन १११७) अर्थात् ‘वितर्क, विचार, और आनन्द अस्मिता के सम्बन्ध से सम्प्रज्ञात योग होता है।’ यह जो चार भेद कहे हैं उनमें विचारानुगत भेद को इस प्रकार से समझे कि स्थूल पदार्थों का साक्षात् करने के पाचात् सूक्ष्म पदार्थों और सूक्ष्म तन्मात्राओं के भावनात्मक विचार के माध्यम से समाधि होती है।

काठ में लगी हुई अग्नि की ज्वालाएँ काठ को भस्म करके स्वयं शान्त होती हैं, वैसे ही नाद में युक्त हुआ चित्त नाद में संयुक्त होकर नाद के साथ ही लय को प्राप्त होता है। नाद में आसक्त मनको तभी छेड़ना चाहिए, जब कि प्राणवायु रूप बाण का सन्धान करना जानता हो। आशय यह है कि अन्तःकरण रूपी मृग के नाद में आसक्त और निश्चल होने में भी हित देखे और उसे प्राण में तभी योजित करे, जबकि प्राणवायु का सुषुम्ना में प्रविष्ट करने में प्रवीणता प्राप्त करले। इस प्रकार मन-प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देना ही अन्तःकरण रूपी मृग पर शर-सन्धान करना है।

व्यापक आत्मा का परम पद वर्णन

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।

ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ।

मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१००॥

टीका—अनाहत शब्द की जिस ध्वनि की प्रतीति होती है, उसी के अन्तर्गत ज्ञेय है और ज्ञेय के अन्तर्गत मन है। वह जहाँ लय को प्राप्त होता है, वह विष्णु का परम पद है ॥१००॥

घ्याख्या—ज्ञेय रूप प्रकाशमान चैतन्य बिना ताङ्गन के उत्पन्न होने वाली शब्द-ध्वनि में रहता है और ज्ञेय में अन्तःकरण रूपी मन का निवास है अर्थात् मन का लय ज्ञेय में होता है और वह ज्ञेय ही सर्व वृत्तियों से शून्य होकर संस्कार मात्र शेष रहने वाल विष्णु का परमपद है।

विष्णु का अर्थ है व्यापक। यहाँ जो परम पद बताया, उसे घ्यापक आत्मा का ही परम स्थान समझना चाहिए। इस प्रकार नाद में ज्ञेय रूप चैतन्य आत्मा और ज्ञेय में मन का विलय कहने का अभिप्राय यही है मन का लय आत्मा में ही होता है।

तावदाकाशसङ्कृत्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ।

निःशब्द तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥१०१॥

यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेय सा ।

यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१०२॥

टीका—आकाश को तब तक कल्पना होती है, जब तक कि शब्दों का प्रवर्तन होता है तथा शब्द से ही निःशब्द परब्रह्म परमात्मा का मान होता है। नाद रूप से जहाँ जो कुछ सुना जाता है वह सब शक्ति ही है। जिसमें तत्वों का अन्त होता है, वही निराकार परमेश्वर है ॥१०१-१०२॥

अथात्—अनाहत ध्वनि स्वरूप शब्द जब तक श्रवण में आते हैं, तब तक आकाश की कल्पना की जाती है, क्योंकि शब्द

स्वयं हो आकाश स्वरूप है। जब मन के सहित शब्द लय को प्राप्त होता है, तब शब्द-रहित परब्रह्म को ही 'परमात्मा' शब्द से पुकारते हैं। अभिग्राय यह है कि सभी वृत्तियाँ जब विलय को प्राप्त हो जाती है, तब जो स्वरूप से विद्यमान रहे उसी को परमात्मा समझना चाहिए।

नादरूप से अनाहत हठनि के रूप में जो कुछ भी सुनाई देता है, वह शक्ति के आत्मरक्त और कुच्छ नहीं है। अर्थात् नाद शक्ति है और जहाँ तत्व लय होते हैं, वह निराकार अर्थात् रूपरहित ब्रह्म है। क्योंकि सभी तत्वों का लय परब्रह्म परमेश्वर में हो होता है।

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ।

राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥१०३

तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्य जलं त्रिभिः ।

उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥१०४

टीका—हठ और लय के सभी उपाय राजयोग से सिद्ध हो सकते हैं और जो पुरुष राजयोग पर समारूढ़ हो जाता है, वह काल की वचना करने में समर्थ होता है। तत्व बीज है और हठ क्षेत्र है तथा उदासीनता जल है, इन तीनों से उन्मनी कल्पलता शीघ्र उत्पन्न होकर प्रवृत्त होती है ॥१०३—१०४॥

छ्याख्या—यहाँ तत्व का अर्थ चित्त है, उसी को बीज कहा गया है। क्योंकि उन्मनी अस्वया रूपी अंकुर के आकार द्वारा चित्त ही परिणाम को प्राप्त हो सकता है। हठ की क्रिया है प्राण-अपान ऐक्य होना, उसी हठयोग को क्षेत्र की संज्ञा दी गई है, क्योंकि क्षेत्र के समान जो प्राणायाम होता है, उसी में उन्मनी अवस्था रूपी कल्पना की उत्पत्ति होती है। विषयों से

उदासीनता रूपी परम वैराग्य को जल के समान माना है, क्योंकि उन्मनी रूपी कल्पलता की उत्पत्ति और वृद्धि उदासीनता अर्थात् वैराग्य रूपी जल से ही हो सकती है। इस प्रकार वैराग्य रूपी जल का हेतु चित्त का विशेष संस्कार साधक की तन्मयता रूप समाधि का ही स्वरूप समझना चाहिए। अभिग्राय यह है कि क्रमशः चित्त, हठ और उदासीनता रूपी बीज, क्षेत्र (खेत) और जल इन तीनों के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि रूपी उन्मनी कल्पलता की उत्पत्ति शीघ्र हो जाती है। विरामप्रत्ययाभ्यास-पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः' (योग दर्शन १।१८) अर्थात्—'जिसकी पूर्व अवस्था विराम प्रत्यय है और जिसमें चित्त की स्थिति संरकार मात्र में शेष रह जाती है वह असंप्रज्ञात समाधि है।'

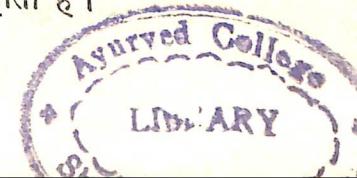
परन्तु पूर्व श्लोक में ग्रन्थकार का यह कथन भी अत्य महत्व का नहीं है कि हठ और लय के सभी उपायों की सिद्धि राजयोग से ही सम्भव है, क्योंकि राजयोग का साधक मृत्यु को भी जीत लेता है।

सदा नादानुसन्धानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः ।

निरञ्जने विलोपेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥१०५

टीका—नाद के अनुसन्धान से सदा संचित पापों का क्षय होता है और चित्त तथा वायु दोनों अवश्य ही लय को प्राप्त होते हैं ॥१०५॥

छ्याख्या—जो योगी नाद के अनुसन्धान में लगा रहता है उसके सब प्रकार के पाप निर्मूल होकर चित्त और प्राणावायु दोनों ही ब्रह्मरन्ध्र में विलीन हो जाते हैं। इस कथन से नाद को महिमा और उत्कृष्टता व्यक्त होती है।



उन्मनी अवस्था में चेष्टा रहितता

शंखदुन्दुभिनाद च न शृणोति कदाचन ।

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥१०६॥

टीका—वह योगी शंख, दुन्दुभी के नाद को कभी नहीं सुनता तथा उन्मनी अवस्था के कारण शरीर काष्ठ के समान हो जाता है, यह निश्चय है ॥१०६॥

च्याख्या—नाद के अनुसन्धान में लगा हुआ योगी जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह काष्ठ के साथ चेष्टा-रहित हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में मन और प्राण का लय होने पर किसी प्रकार की चेष्टा या संज्ञा नहीं रहती और न उसे शंख, दुन्दुभी आदि किसी प्रकार का भी शब्द सुनाई नहीं देता। यहाँ शंख, दुन्दुभी आदि का तात्पर्य शब्द मात्र से है, इसलिए किसी प्रकार का भी शब्द न सुनाई देना समझना चाहिए।

सर्वावस्थाविनिरुक्तः सर्वचिताविवर्जितः ।

मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०७॥

टीका—उस समय वह सभी अवस्थाओं से मुक्त और सभी चिन्ताओं से रहित हो जाता है तथा मृतक के समान अवस्थित रहता हुआ मुक्त ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥१०७॥

च्याख्या—व्यत्थानावस्था पाँच मानी जाती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण, सात्रक उन सभी अवस्थाओं से छुटकारा प्राप्त कर लेता है, तथा उसे किसी भी प्रकार की

चिन्ता न रहने से सभी वृत्तियों के निरोध रूप योग में स्थिति हो जाती है। तब वह मृतक के समान निश्चेष्ट होकर जीव-न्मुक्त हो जाता है। ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’ (योगदर्शन ११३) अर्थात् ‘उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में ही अवस्थिति हो जाती है।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न कर्मणा ।

साध्यते न स केनापि योगी मुक्तः समाधिना ॥१०८॥

टीका—उसको काल भी नहीं खा सकता, उसे कर्म की भी बाधा नहीं होती। समाधि में अवस्थित वह योगी किसी प्रकार भी साध्य नहीं होता ॥१०८॥

च्याख्या—मृत्यु भी समाधि में युक्त हुए योगी का भक्षण नहीं कर सकती। उसे किसी प्रकार का शुभ अशुभ कर्म बाधा नहीं पहुँचा सकता और न उस योगी को पुरुष यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुध आदि किसी उपाय से साध्य कर सकता है अर्थात् द्वा नहीं सकता। इस प्रकार समाधिस्थ योगी सभी क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।

नात्मानां न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥१०९॥

टीका—उस समाधि में युक्त योगी के लिए गंध, रस, रूप स्पर्श, नाद तथा अपने पराये का ज्ञान भी नहीं रहता ॥१०९॥

च्याख्या—गन्ध दो प्रकार की है—मुग्न्ध और दुर्गन्ध। रस छः प्रकार का है—मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त कषाय और लवण। रूप के सात प्रकार हैं—शुक्ल, पोत, नील हरित, लोहित कपिश और चित्र। स्पर्श के तीन भेद हैं—शीत, उष्ण

और अनुष्णाशीत और शब्द के शंख, दुःखभी, वीणा, मेघ, समुद्र आदि वाह्य शब्द और नाद रूप आन्तरिक शब्द, इनमें से किसी का भी ज्ञान समाधि में स्थित पुरुष को नहीं रहता। यही नहीं, उस समय वह अपने पराये को भी नहीं जानता।

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिवर्जितम् ।

न चास्तमेति नोदैदि यस्यासौ मुक्त एव सः ॥११०॥

टीका—जिसका चित्त न सोता है, न जागता और न उसमें स्मृति या विस्मृति ही रहती है तथा उसमें वृत्ति का भाव-अभाव ही हो, वह योगी निश्चय ही मुक्त है ॥११०॥

ब्याख्या—चित्त के सोने का अभिप्राय आच्छादक तमोगुण का अभाव होना है, क्योंकि त्रिगुणात्मक अन्तःकरण में जब सत्त्व, रज की न्यूनता और तमोगुण की अधिकता होती है, तब अन्तःकरण का परिणाम रूप विकार न होने से सुप्तावस्था होती है तथा इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण होता है वह जाग्रत अवस्था है; योगी के चित्त पर इन दोनों में से किसी भी अवस्था का प्रभाव नहीं रहता, इसीलिए उसका मुक्त और जाग्रत अवस्थाओं से रहित होना कहा है।

सम्पूर्ण वृत्तियों का अभाव अथवा उद्बोध का भाव से स्मृति-राहित्य और स्मृति के जनक संस्कार का अभाव विस्मृति-राहित्य होता है। यह दोनों भी समाधि में स्थित योगी के चित्त में नहीं होते तथा शेष रहे सस्कारों के कारण न उसके चित्त का नाश होता है और न वृत्तियों की उत्पत्ति के अभाव से चित्त का उदय ही होता है, और ऐसा होने से वह योगी मुक्त ही माना जाता है।

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।

न मानं तापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥१११॥

टीका—समाधि में स्थित योगी शीत, उष्ण, दुःख, सुख, मान, अपमान को भी नहीं जानता ॥१११॥

ब्याख्या—समाधि की अवस्था में अवस्थित हुए योगी को शीतादि का मान नहीं होता। वह किसी प्रकार के दुख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता। उसे इसकी भी चिन्ता नहीं होती कि कोई उसका सम्मान करता है अथवा अपमान। उसकी ऐसी विकार रहित स्थिति होती है।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।

निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥११२॥

टीका—जो योगी स्वस्थ अवस्था में और जाग्रत अवस्था में भी सुप्त के समान अवस्थित रहता हुआ श्वास-उच्छ्वास से भी रहित हो जाता है, वह निश्चित रूप से मुक्त ही है ॥११२॥

ब्याख्या—स्वस्थ अवस्था में इन्द्रियों और अन्तःकरण में प्रसन्नता रहती है तथा जाग्रत अवस्था में जो इन्द्रियों का व्यापार होता है, उस सबको त्याग देने के कारण वह योगी सोते हुए के समान हो जाता है और तब न तो वह श्वास लेता और न श्वास छोड़ता है। इस प्रकार निश्चल रूप से स्थित हुआ योगी मुक्त ही है। योगचूडामण्युपनिषत् में भी कहा है—

समाधौ परमंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।

तस्मिन्हृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥

अर्थात्—समाधि होने पर जो परमज्योति, अनन्त और विश्वतोमुख का भाव होता है, उससे योगी क्रिया, कर्म और आवागमन से छूट जाता है !

योगी की सर्वथा अवध्यता वर्णनं

अवध्यः सर्वशास्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।

अग्राह्यो मन्त्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥११३॥

टीका—समाधि में युक्त योगी सब प्रकार के शस्त्रों से अवध्य तथा सभी शरीर धारियों के सामर्थ्य से बाहर होता और न उसे कोई शरीर धारी अपने वश में ही सकता है । वह किसी मन्त्र और यन्त्र से भी ग्रहण करने के योग्य नहीं होता ॥११३॥

छ्याख्या—समाधि में अवस्थित हुए योगी को कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार के शस्त्र से नहीं मार सकता है । वह यन्त्र, मन्त्र, मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के द्वारा भी प्रभावित नहीं किया जा सकता । अभिप्राय यह है कि उसके लिए कोई विघ्न वाधा स्वरूप नहीं हो सकता ।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुमो मध्यमार्गं
यावदिद्बदुर्नि भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ।
यावद्वचाने सहजसदृशं जायते नैव तत्वं ॥
तावज्ञानं बदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥११४॥

टीका—जब तक मध्य मार्ग से चढ़ता हुआ प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर नहीं होता, जब तक प्राणवायु से दृढ़ बन्धन से बिन्दु स्थिर नहीं होता और जब तक ध्यान में सहज रूप से तत्त्वरूपता प्राप्त नहीं होती तब तक ज्ञान के दम्भ का प्रलाप मिथ्या ही है ॥११४॥

छ्याख्या—मध्य मार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हुआ प्राणवायु जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर स्थिर होता है, तभी साधक का बिन्दु भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है । क्योंकि सुषुम्ना में न पहुँचा हुआ प्राणवायु असिद्ध होता है । बिन्दु की स्थिरता भी कुम्भक के दृढ़ करने से ही सिद्ध हो सकती है । इसे पहले बता चुके हैं और अब पुनः बताते हैं कि मन की स्थिरता से वायु स्थिर होता है, वायु की स्थिरता से बिन्दु की स्थिरता होती है और इनकी अस्थिरता हो तो योगसिद्धि सम्भव नहीं ।

इससे समझना चाहिए कि प्राण और बिन्दु के स्थिर होने पर ध्यान में एक रूपता हो सकती है और वह एक रूपता ही तत्त्व रूपता अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य में सिद्धि प्राप्त करा सकती है । महर्षि पतंजलि का कथन है—‘पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेरिति’ (यो. द. ४।३४) अर्थात् ‘पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लय हो जाना अथवा चितिशक्ति का अपने रूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है ।’

इलोक में 'यावद्धृष्ट्याने सहज सट्टशं जायते नैव तत्व' इत्यादि कह कर ध्यान के अनन्तर सहज रूप से तत्व अर्थात् आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती' तब तक ज्ञान हुआ कहना दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र माना है और यह ठीक भी है, क्योंकि मनको विषयों से खींच चैतन्य में स्थिर करना ध्यान और ध्यान को भी भूल जाना समाधि है। यथा 'सर्वं शरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ध्यान विस्मृतिः समाधिः' (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १) ।

इस प्रकार ध्यान को भी भूल जाने से आत्मतत्व का दर्शन हो सकता है। जब तक वैसी स्थिति न हो तब तक ज्ञान का दम्भ करना व्यर्थ का प्रलाप ही है।

॥ हठयोग प्रदीपिका का चतुर्थ उपदेश समाप्त ॥

॥ हठयोग प्रदीपिका सम्पूर्ण ॥

उत्कृष्ट व मीलिक अद्वितीय-ग्रन्थ

१—मंत्र-महाविज्ञान खण्ड	... ३२)
२—मंत्र योग	... ५)
३—वैदिक मंत्र विद्या	... ८)
४—मंत्र शक्ति से रोग निवारण	... ५)७५
५—मंत्र शक्ति से विपत्ति निवारण	... ५)७५
६—मंत्र शक्ति से कामना सिद्धि	... ५)७५
७—मंत्र शक्ति के अद्भुत चमत्कार	... ३)७५
८—ओंकार सिद्धि	... ५)७५
९—तंत्र महासाधना	... १०)
१०—शारदा तिलक	... १०)
११—लक्ष्मी सिद्धि	... ८)७५
१२—उपासना महाविज्ञान	... ६)
१३—देव रहस्य	... ६)
१४—विष्णु रहस्य	... ६)
१५—शिव रहस्य खण्ड	... ११)५०
१६—हस्तरेखा महाविज्ञान	... १०)
१७—ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता	... १०)
१८—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग	... ५)७५
१९—दास बोध	... ७)५०
२०—पोदश संस्कार विधि	... ५)७५
२१—दृष्टान्त सरित सागर	... ८)५०
२२—शक्ति सम्राट कैसे बनें	... ३)५०
२३—चिन्तायें कैसे दूर हों ?	... ३)५०
२४—तंत्र विज्ञान	... ५)८५
२५—तंत्र रहस्य	... ५)७५
२६—तंत्र महाविद्या	... ५)७५
२७—तंत्र महा सिद्धि	... ५)७५

प्रकाशक :— संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेद नगर,
बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)